श्रीमद्वल्लभाचार्य और उनके सिद्धान्त

आचार्यवर्य गोस्वामि तिलकायित

श्री १०८ श्री इन्द्रदमनजी (श्री राकेशजी) महाराज श्री की आज्ञा से प्रकाशित

जगद् गुरु श्रीमद् वल्लभाचार्य वंशावतंस
आचार्य वर्य्य गोस्वामि तिलकायित
श्री १०८ श्री इन्द्रदमन जी (श्री राकेश जी) महाराज

नाथद्वारा

प्राकट्य
फाल्गुन शुक्ल ७ वि.सं. २००६

जन्म तिथि
२४ फरवरी, १९५०

गो.चि. श्री १०५ श्री भूपेश कुमार जी (श्री विशाल बावा)

नाथद्वारा

प्राकट्य	जन्म तिथि
पौष कृष्ण ३०, वि.सं. २०३७	५ जनवरी, १९८१

श्रीमद्वल्लभाचार्य
और
उनके सिद्धान्त

विद्याविलासि गोस्वामि तिलकायित श्री १०८
श्रीइन्द्रदमनजी (श्री राकेशजी) महाराजश्री
की आज्ञा से प्रकाशित

लेखक

देवर्षि भट्ट श्रीरमानाथ शास्त्रितनुज
भट्ट श्रीव्रजनाथ शर्मा

संशोधक एवं सम्पादक

त्रिपाठी यदुनन्दन श्रीनारायणजी शास्त्री
विद्याविभागाध्यक्ष

प्रकाशक

मन्दिर मण्डल, नाथद्वारा

तृतीय संस्करण
संवत् २०७३

न्योछावर– ₹ 45/–

।। श्रीहरिः ।।

लेखक का संक्षिप्त परिचय

स्व. देवर्षि श्रीब्रजनाथजी शास्त्री पुष्टिमार्गीय संप्रदाय के मूर्धन्य विद्वान् श्रीरमानाथजी शास्त्रीजी के सुयोग्य सुपुत्र थे। आपका जन्म १ जनवरी सन् १९०१ को जयपुर में हुआ था। आपकी शिक्षा अपने पिता श्री से ही संपन्न हुई थी। श्रीरमानाथजी शास्त्री के निधन पश्चात् नित्य लीलास्थ गोस्वामि तिलकायित श्री १०८ श्रीगोविन्दलालजी महाराज श्री ने आपको विद्या विभाग के अध्यक्ष पद पर नियुक्ति प्रदान की थी।

जन्म सन् १९०१ निर्वाण सन् १९५६

श्रीब्रजनाथजी ने जिन ग्रन्थों की रचना की थी उनमें श्रीवल्लभाचार्य एवं उनके सिद्धान्त, ब्रह्मसम्बन्ध अथवा पुष्टिमार्गीय–दीक्षा तथा नित्य सेवा स्मरण आदि है। आपका निर्वाण सन् १९५६ में हो गया। श्रीशास्त्रीजी का देवर्षि परिवार शिक्षा के क्षेत्र में आज भी प्रतिभा सम्पन्न एवं ख्याति प्राप्त है।

निवेदक–

त्रिपाठी यदुनन्दन नारायणजी शास्त्री
अध्यक्ष – विद्या विभाग नाथद्वारा

प्रस्तावना

महाप्रभु जी के पधारने पर दृश्य उपस्थित हुआ था मानों बली राजा की सभा में भगवान् वामन का प्रवेश हुआ हो, अथवा कंसाराति भगवान् श्रीकृष्ण ने मानों कंस की सभा में प्रवेश किया हो। राजा ने देखा उसके उद्धारक करूणाकर गुरू का सभा में पदार्पण हो रहा है।

व्यास तीर्थ ने देखा मानों उसका प्रतिद्वन्द्वी उन्हें परास्त करने आ रहा है। वैष्णवों ने देखा उनके रक्षक भगवान् स्वयं इस शरीर से पधार रहे हैं। सभा श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के पदार्पण से कुछ क्षण स्तब्ध रह गई अपूर्व ब्रह्मचारी वेश धारी ब्राह्मण बालक के आगे सभी निस्तेज हो गये थे, जैसे सूर्योदय होने पर तारागण होते है। सभी ने आसन से उठकर अद्भुत बालक का अभिवादन किया श्रीमहाप्रभुजी ने भी सभी के विनय का यथोचित उत्तर दिया। अनन्तर आपने स्वाभाविक मधुर किन्तु स्पष्ट स्वर में पूछा वाद किस विषय पर हो रहा है। यथोचित उत्तर पाकर आपने ब्रह्मवाद का पक्ष लेकर शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया। शंकर मतानुयायी के सिद्धान्तों को बड़ी ही दृढ़ता से अस्वीकार कर दिया। शंकर मतावलम्बी इस नव प्रविष्ट बालक को प्रथम बार में ही परास्त करना चाहते थे। उन्होंने श्रीवल्लभाचार्यजी से पूछा कि ब्रह्म निधर्मक नहीं है इसके लिये वे क्या प्रमाण प्रस्तुत करेंगे।

इस पर श्री श्रीवल्लभ ने बहुत ही आक्रामक तरीके से मायावाद के सभी तर्कों को पीछे छोड़ दिया। उन्होंने शंकराचार्य के मायावाद अथवा श्रीरामानुजाचार्य या माध्वाचार्य के वाद भी दोष मुक्त नहीं है। यदि वेद, गीता या ब्रह्म सूत्र का और उनके साथ श्रीभागवत का भी यथार्थ अनुसरण करता हुआ कोई भी वाद है तो वह ब्रह्मवाद ही है और निर्दुष्ट है तो वह भी ब्रह्मवाद या पुष्टिमार्ग ही हैं।

सभी विद्वान् पण्डितों और आचार्यों को ब्रह्मवाद जो उनके लिये नवीन था अपने सुदृढ़ तर्कों द्वारा चकित कर दिया उन्होंने दृढ़ता के साथ शुद्धाद्वैत के पक्ष में अकाट्य तर्क प्रस्तुत किये। श्रीवल्लभाचार्यजी के सम्मुख बोलने या उनके सिद्धान्तों के विरूद्ध बोलने का किसी में भी साहस नहीं हुआ सभा में सभी उनकी प्रशंसा करने लगे। इसका विशेषकर राजा कृष्णदेवराय एवं सभी पण्डितों

और आचार्यों पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने श्रीवल्लभाचार्य की सर्वसम्मति से विजय की घोषणा की। यह विजय एक महान् सफलता थी सभी ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की एवं श्रीवल्लभाचार्यजी की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली।

राजा ने सभा में श्रीवल्लभाचार्यजी के सम्मान में कनकाभिषेक किया। राजा ने सर्व प्रजाजनों एवं विविध देश के सर्वमत के सभी विद्वानों ने एक मत होकर आपको "महाप्रभु" की पदवी से अलंकृत किया। अपनी विजय में जितना द्रव्य मिला था उसमें से केवल प्रभु सेवोपयोगी कुछ अंश को छोड़कर ब्राह्मण वर्ग को दान में दे दिया। ऐसा था श्री मदाचार्य चरण का अपूर्व त्याग और आत्म संयम। इस कार्य से राजा व अन्य सभी उनके प्रशंसक बन गये। राजा व्यासतीर्थ के साथ श्रीवल्लभाचार्यजी के पास पहुंच कर बहुत सी अमूल्य वस्तुएं भेंट की। उसी धन से उन्होंने एक हीरा जवाहरात जड़ित सोने की करधनी (मेखला) बनाकर भगवान् श्रीविट्ठल को भेंट की। इस कार्य से व्यास तीर्थ इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने श्री वल्लभ से निवेदन किया कि उनके पश्चात् वे मठ के प्रधान बन जायें किन्तु श्रीवल्लभाचार्यजी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

ऐसा कहते हैं कि कनकाभिषेक हुआ तब श्रीवल्लभाचार्यजी की आयु मात्र चौदह वर्ष थी ऐसी साम्प्रदायिक जन श्रुति से ज्ञात होता है परन्तु ऐतिहासिक तथ्य (प्रमाण) जो उपलब्ध हैं उनके अनुसार उस समय श्रीवल्लभाचार्यजी की आयु तीस वर्ष की थी। श्रीमहाप्रभुजी ने अपनी दक्षिण की धार्मिक यात्रा प्रारम्भ की और उस समय उनकी रामानुज, माध्व और निम्बार्क सम्प्रदाय के विद्वानों से बहुत वाद–विवाद हुआ। उन्होंने तीन बार देश के प्रमुख धार्मिक स्थलों की पदयात्रा की और ब्रह्मवाद का उपदेश दिया।

साम्प्रदायिक आस्थानुसार ऐसा कहा जाता है कि बद्रीकाश्रम में ब्रह्म सूत्रकार श्रीवेद व्यासजी से श्रीवल्लभाचार्यजी का मिलन हुआ। श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीवेदव्यासजी से पूछा कि उन्होंने ब्रह्मसूत्रों को इस प्रकार क्यों रखा कि इसे मायावाद के अर्थ में समझा जाय। उन्होंने श्रीव्यासजी को उनके सूत्रों का भाष्य दिखाया और ब्रह्मवाद के सिद्धान्तों को प्रकट किया। श्रीवल्लभाचार्यजी ने श्री सुबोधिनीजी का एक भाग सारगर्भित श्रीभागवत की टीका श्रीव्यासजी को सुनाई, श्रीव्यासजी श्रीवल्लभाचार्यजी के कार्य से बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने श्रीवल्लभ से अपने उपदेशों के प्रसार का निर्देश दिया।

श्रीवल्लभाचार्यजी का श्रीकृष्ण चैतन्य से भी मिलन हुआ जिन्हें गौरांग महाप्रभु नादिया के नाम से प्रसिद्ध (जाना जाता) है। इस बात में कोई सत्यता प्रतीत नहीं होती है कि श्रीकृष्ण चैतन्य के श्वसुर श्रीवल्लभाचार्यजी थे।

श्रीवल्लभाचार्यजी विजयनगर की सभा में कनकाभिषेक के पश्चात् काशी पधारे तब वहां उन्हें मायावादी पण्डितों के भयंकर विरोध का सामना करना पड़ा। उन सभी को शान्त करने के लिये श्रीवल्लभाचार्यजी ने पत्रावलम्बन ग्रन्थ काशी विश्वेश्वर के मन्दिर पर लगा दिया तथा काशी के सभी पण्डितों को तद्विरुद्ध शास्त्रार्थ करने को कहा। काशी के पण्डितों द्वारा उसका विरोध करने का साहस नहीं हुआ। ऐसे ग्रन्थ का खण्डन कौन कर सकता था विद्वान् पण्डितों ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली।

श्रीवल्लभाचार्यजी ने काशी छोड़कर इलाहाबाद (प्रयाग) के निकट अडैल में अपना शेष जीवन व्यतीत किया और यात्रा के मध्य तैयार किये गये कार्य को पूरा किया। इनके कार्यों व जीवन को अहिन्दु (गैर हिन्दु) भी अपनी आंखों से ओझल नहीं कर सके। उस समय का शासक सिकन्दर लोदी जो कि मुस्लिम धर्म का कट्टर अनुयायी था तथा दिल्ली का शासक था। उसने मुस्लिम धर्म के प्रचार के लिये अथक प्रयास किया और प्रत्येक साधनों का प्रयोग इस हेतु किया। सिकन्दर लोदी ने श्रीवल्लभाचार्यजी की महान् उपलब्धियों के विषय में सुना तो बहुत प्रभावित हुआ तथा स्वयं इस महान् सन्त से व्यक्तिगत रूप से मिलने की इच्छा प्रकट की।

ऐसा कहा जाता है कि सिकन्दर लोदी अपने कुछ साथियों के साथ गुप्त रूप से श्रीमहाप्रभुजी के दर्शनार्थ गया। श्रीमहाप्रभुजी के दिव्य तेज़ से प्रभावित होकर वह इतना प्रसन्न हुआ कि वह अपने मुकुट सहित सिर से श्रीमहाप्रभुजी के चरणों में नत मस्तक हो गया।

दिल्ली लौटकर उसने अपने सबसे अच्छे कलाकार को अडैल भेजकर श्रीमहाप्रभुजी के रंगीन चित्र बनाने को भेजा। आज्ञा का तत्काल पालन किया गया और "होनहार" नामक मुस्लिम कलाकार द्वारा एक सुन्दर चित्र श्रीमहाप्रभुजी का तैयार किया गया। दीर्घ समय तक यह चित्र शाही महलों की शोभा बढ़ाता रहा और बाद में मुगल सम्राट शाहजहां ने यह चित्र किशनगढ़ के महाराजा

श्रीरूपसिंहजी को अफगानिस्तान विजय करने के फलस्वरूप भेंट दिया। उसी समय से यह मूल चित्र श्रीमहाप्रभुजी का किशनगढ़ के राजा के आधिपत्य में है। इस चित्र की विधिवत् सेवा पूजा की जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीमहाप्रभुजी ने पुष्टिमार्ग (अनुग्रह मार्ग) का भारत में प्रचार–प्रसार करने के पश्चात् विवाह किया। उनकी धर्मपत्नी का नाम ''महालक्ष्मी'' था। उनकी कोख से श्रीमहाप्रभुजी के दो पुत्र रत्न हुए। प्रथम श्रीगोपीनाथजी और द्वितीय श्रीविट्ठलनाथजी (श्रीगुसांईजी)।

वर्तमान में सभी सातों घरों के श्रीगुसांईजी के उत्तराधिकारी वंशज हैं। ऐसा माना जाता है कि श्रीमहाप्रभुजी का सभी महत्वपूर्ण कार्य का लेखन विवाह के पश्चात् हुआ। श्रीमहाप्रभुजी ने अडैल को अपना स्थायी निवास बना लिया और पूर्णलीन होकर प्रभु श्रीकृष्ण की सेवा में अपने को समर्पित कर दिया। श्रीमहाप्रभुजी का संपूर्ण जीवन साधारण (सादगी पूर्ण) आदर्श युक्त था। प्रभु सेवा के पश्चात् संपूर्ण समय को धार्मिक लेखन कार्य में व्यतीत करते थे। सम्प्रदाय की जनश्रुति के अनुसार जब श्रीमहाप्रभुजी झारखण्ड की यात्रा में थे, तब उनको प्रभु श्रीनाथजी ने आज्ञा की। आज्ञा के पश्चात् उन्होंने झारखण्ड की यात्रा बीच में ही समाप्त कर तत्काल व्रज के लिये प्रस्थान किया। मथुरा के निकट पवित्र श्रीगोवर्धन पर्वत पर प्रभु श्रीनाथजी को पाट बैठाया। व्रज निवास के समय श्रावण शुक्ल एकादशी की मध्य रात्रि को प्रभु श्रीनाथजी ने उन्हें साक्षात् दर्शन देकर आज्ञा की कि वह जीव को उनकी शरण में लें, जिसे ब्रह्मसम्बन्ध के नाम से जाना जाता है। ५२ वर्ष की आयु में श्रीमहाप्रभुजी ने गृह परित्याग कर दिया तथा भक्तिमार्ग के सन्यास को ग्रहण कर लिया। वे अन्तिम बार बनारस आये उस समय वहां का वातावरण शान्त हो गया था तथा उनके पक्ष का वातावरण हो गया था। बनारस के बहुत से विद्वान् उनके सभीय आये तथा नत मस्तक हुए। श्रीवल्लभाचार्यजी स्वयं भी पूर्णतया शान्त थे। उन्होंने मौन व्रत धारण कर लिया था तथा प्रभु में लीन हो गये थे।

इस मौन व्रत के समय उनके द्वितीय पुत्र श्रीविट्ठलेश्वर (श्रीगुसांईजी) अपने कुछ अनुयायियों के साथ वहां आये और श्रीमहाप्रभुजी से अन्तिम मार्ग दर्शन के लिये निवेदन किया। उस समय उन्होंने एक पत्र पर साढ़े तीन श्लोकों में शिक्षा दी। जिसे सार्ध त्रय श्लोकी के नाम से जाना जाता है।

किंचित् समयानन्तर श्रीवल्लभाचार्यजी ने इस धरा पर यश कीर्ति को फैलाकर संसार से विदा ली। उनका संपूर्ण जीवन प्रभु की सेवा व मानवता के लिये समर्पित था। उन्होंने जो कुछ सत्य था और प्रभु के लिए समर्पित था उसी का ही उपदेश दिया। श्रीआचार्य चरण ने जब तिरोहित लीला की तब पांचो तत्व सीधे स्वर्ग में पहुंच गये। उस समय के दृश्य का वर्णन डा. विल्सन ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया– "अपना मिशन पूरा करने पर उन्होंने हनुमान घाट पर गंगा में प्रवेश किया और जब गंगा में प्रविष्ट हुए तो उनका शरीर लुप्त हो गया तथा उस स्थान से एक चमक प्रकट हुई और भक्त दर्शकों की उपस्थिति में वह स्वर्ग की ओर बढ़ गई और नभ मण्डल में जाकर ज्योति के रूप में लुप्त हो गयी"।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी का सम्पूर्ण जीवन वैराग्य पर आधारित था। उन्होंने अपने आपको सभी सांसारिक सुखों से मुक्त रखा। उनके सभी ग्रन्थों में उन्होंने वैराग्य और त्याग पर जोर दिया। वे स्वयं वैरागी (त्यागी) ही रहे और अनुयायियों को उसी का अनुकरण करने का निर्देश दिया।

श्रीवल्लभाचार्यजी के उपदेश

श्रीवल्लभाचार्यजी की मुख्य शिक्षा पुष्टिमार्ग के लिए थी। यह पुस्तक मुख्यतः पुष्टिमार्ग पर आधारित है जिसे श्रोवल्लभ वैष्णव स्वीकार करते हैं एवं पालन करते हैं। पुष्टिमार्ग का अर्थ है प्रभु कृपा या अनुग्रह मार्ग, इससे ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। प्रभु कृष्ण के साथ एकाकार ही उनकी सेवा और आज्ञा मानकर या दूसरे शब्दों में स्वरूप सायुज्य होकर मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इसे हम भगवद् अनुग्रह मार्ग कह सकते हैं।

कुछ अज्ञानी इसे शारीरिक आनन्द मार्ग मानते हैं यह उनका मानना अनुचित है। श्रीवल्लभाचार्यजी पुष्टिमार्ग को इस प्रकार समझाते है–

"कृति साध्यं साधनं ज्ञान भक्ति रूपं शास्त्रेण बोध्यते।
ताभ्यां विहिताभ्यां युक्तिमर्यादा।
तद्रहितानानपि स्वस्य रूप बलेन स्व प्रापणं पुष्टि रित्युच्यते"।

शास्त्रानुसार मुक्ति ज्ञान और भक्ति के द्वारा प्राप्त की जाती है। इन साधनों द्वारा मुक्ति शास्त्रों द्वारा मायावाद कही जाती है। परन्तु जो इन साधनों का उपयोग नहीं कर सकते हैं तथा जो प्रभु की कृपा पर आश्रित हैं उन्हें मुक्ति

भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से ही मिलती है। वास्तव में वहीं पुष्टिमार्ग है एवं उससे प्रभु भक्ति प्राप्त हो जाती है।

श्रीवल्लभाचार्य का मत है कि माध्वाचार्य द्वारा उपदेशित भक्ति रजस् है तथा रामानुज द्वारा उपदिष्ट भक्ति तमस् है उनके द्वारा कथित भक्ति निर्गुण है। इसका अर्थ है कि भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति दृढ़ भक्ति और स्नेह भाव रखना है सब को छोड़कर चाहे व सांसारिक हो या धार्मिक हर संभव प्रकार से भगवान् कृष्ण के प्रति अनुराग (प्रेम) रखा जाना चाहिए। यही पुष्टिमार्ग का प्रमुख सिद्धान्त है। यह प्रभु श्रीकृष्ण की महानता पर आधारित है।

श्रीवल्लभाचार्यजी का विश्वास था कि कलियुग में भगवान् की भक्ति के अलावा अन्य कोई मार्ग मुक्ति का नहीं है। जिस प्रकार गंगा के पानी का तेज बहाव पहाड़ों की चट्टानों और कांटेदार झाड़ियों में अपना मार्ग बनाता है उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति भी होनी चाहिए। भगवद् प्रेम लौकिक और वैदिक बाधाओं द्वारा बाधित नहीं होना चाहिए।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग शुद्धाद्वैत के नाम से जाना जाता है तथा यही ब्रह्मवाद है। आचार्यश्री के अनुसार श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है अर्थात् प्रमुख भगवान् है। त्रिगुण सत्व, रज, और तम ये माया की ही शक्तियां है। इन त्रिगुण का ब्रह्मा, विष्णु और शिव पर प्रभाव होता है। परन्तु इनका परब्रह्म अर्थात् भगवान् कृष्ण पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं होता है। इसलिए उन्हें निर्गुण कहा जाता है। सत्व, रज तथा तम गुणों का प्रभाव नहीं होने से ही श्रीकृष्ण की शरण में जाना चाहिए। यहां एक देवोपासना को महत्व दिया गया है। एक प्रमुख ध्यान देने योग्य बात यह है कि श्रीवल्लभाचार्यजी ने नया कुछ भी उपदेशित नहीं किया है। उनके उपदेश वेदों, सूत्रों, गीता और भागवत में से ही उद्धृत है। उन्होंने केवल उनको स्पष्ट किया है जो कि पूर्व में ठीक नहीं समझे जाते थे या अज्ञात थे।

श्रीवल्लभाचार्य के सिद्धान्त

श्रीवल्लभाचार्यजी के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म का रूप दोष रहित व सभी गुणों से परिपूर्ण है। यह आत्म निर्भर है। भौतिक शरीर रहित है। इसका अनन्त रूप है अपरिवर्तन शील है फिर भी अस्थिर है। यह सभी विपरीत गुणों का आधार है इसे तर्क से नहीं समझा जा सकता है। महानतम् आत्मा (भगवान् श्रीकृष्ण) को वेद में ब्रह्म कहा गया है और उपनिषदों में परमात्मन् और वही

भागवत गीता में भगवान् के नाम से कहा गया है। यह सच्चिदानन्द स्वरूप है यह सर्व स्थान में अमूर्त है यह सर्व शक्तिमान् व आत्म निर्भर है।

यहां जो कुछ आभासित होता है वह निश्चित रूप से आत्मा है। इसे सर्व शक्तिमान् भगवान् बनाता है या उसके द्वारा बनाया जाता है। संसार की आत्मा रक्षा करती है और उसके द्वारा रक्षित भी है। श्रीवल्लभाचार्य ने भगवान् श्रीकृष्ण को परमात्मा कहा है।

कृषिर्भूवाचकः शब्दोणश्चनिर्वृत्ति वाचकः।
तयोरेक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।।

'कृषि' का अर्थ है शक्ति और 'ण' शब्द का अर्थ है परम सुख। इन दोनों शब्दों का अर्थ समूह परब्रह्म कहलाता है।

जगत या संसार

श्रीवल्लभाचार्यजी के अनुसार इस जगत या संसार का निर्माण ब्रह्मा ने किया है। प्रारम्भ में केवल परमात्मा ही अस्तित्व में था। उसने लीला के लिये संसार का निर्माण किया संसार का निर्माण करने के लिए उसने अपने अनेक रूप धारण किये उसके अनुसार कोटि अणु उनके शरीर से प्रकट हुए। आग से चिनगारी के समान सत्, चित् और आनन्द भी थे। सत् से प्रकट अणु से विषय (वस्तु) हो गया जो चित् से जीव और आनन्द से प्रकट हुआ वह अन्तर्यामी हुआ। सभी अणु जो परमात्मा से प्रकट हुए इसलिए वे असत्य (अवास्तविक) नहीं हो सकते हैं इसलिए यह संसार न तो असत्य है और न माया।

जीव

जीव परमात्मा का अंश है। जिस प्रकार आग से चिनगारी को पृथक् नहीं किया जा सकता हैं उसी प्रकार जीव को परमात्मा या ब्रह्म से पृथक् नहीं किया जा सकता है।

परब्रह्म की दो शक्तियां

परब्रह्म की दो बड़ी शक्तियां है आविर्भाव और तिरोभाव। संसार अस्तित्व में जब आता है जब परब्रह्म आविर्भाव का कार्य करता है। तिरोभाव के समय केवल भगवान् का ही अस्तित्व रहता है तथा सक्रिय रहता है।

ब्रह्म सम्बन्ध

सम्प्रदाय में दो संस्कार शरण मन्त्रोपदेश और आत्म निवेदन सामान्य रूप से किये जाते हैं। प्रथम वैष्णव के रूप में पहचान कराता है और दूसरा उसे सेवा कर्म का अधिकारी बनाता है। प्रथम संस्कार श्रीवल्लभाचार्य के वंशजो द्वारा बालक के कर्ण (कान) में ''श्रीकृष्णः शरणं मम'' अष्टाक्षर मन्त्र कहकर किया जाता है।

द्वितीय संस्कार भी श्रीवल्लभाचार्य के वंशजों द्वारा ही कराया जाता है। इस संस्कार में आयु का बन्धन नहीं है। यह संस्कार ब्रह्मसम्बन्ध कहलाता है। ब्रह्म सम्बन्ध का अर्थ होता है पुष्टिमार्ग में दीक्षित होना। पुष्टिमार्ग में इस संस्कार (दीक्षा) के बिना किसी को भी श्रीकृष्ण की सेवा करने का अधिकार नहीं है। यह संस्कार (दीक्षा) के दो भाग हैं एक श्लोक दीक्षा देने वाले द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप के समक्ष दीक्षा लेने वाले के हाथ में तुलसीदल देकर सुनाया जाता है। वही तुलसी दल आचार्य श्री द्वारा प्रभु के चरणों में समर्पित किया जाता है। इससे वह प्रभु श्रीकृष्ण की सेवा का अधिकारी हो जाता है।

ब्रह्मसम्बन्ध का अर्थ है ब्रह्म के साथ सम्बन्ध। इस ब्रह्म सम्बन्ध का अनुभव करना तथा यह समझना कि प्रभु एवं जीव के मध्य हमेशा सम्बन्ध रहे हैं। ब्रह्म सम्बन्ध दीक्षा के समय दीक्षित होने वाले को गद्य मन्त्र का उच्चारण करना पड़ता है उसका अर्थ है कि भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति सम्पूर्ण का समर्पण।

ब्रह्म सम्बन्ध का मन्त्र वेदों, सूत्रों और गीता पर आधारित है। हमारे शास्त्रों में प्रभु एवं जीव के सम्बन्धों पर विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। जीव भगवान् या परब्रह्म का एक अंश है। जीव भगवान् श्रीकृष्ण के अंश से अलग होता है तथा संसार में आता है। सांसारिक पांच दोषों के कारण प्रभु के सहं सम्बन्ध विस्मृत हो जाते है। श्रीवल्लभाचार्यजी कहते हैं कि जीव तमोयुक्त है जब वह ब्रह्म सम्बन्ध लेता है तब वह शुद्ध हो जाता है। ब्रह्म सम्बन्ध के मन्त्र में जीव की स्थिति को बताया है दीक्षा लेने वाला अपने हाथ में तुलसी दल लेकर भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप के सम्मुख मन्त्र का उच्चारण करता है जिसका अर्थ है कि–

हे भगवान् कृष्ण मैं आपका हूं। मैं आपका सेवक हूँ। मैं हजारों वर्षों पूर्व आपसे पृथक् हुआ और पृथक् होने का कष्ट भोग रहा हूं। आपसे पृथक् होनें के

पश्चात् प्रसन्नता नष्ट हो गयी है। हे प्रभु! श्रीकृष्ण मैं अपना सम्पूर्ण जीवन, मन और कार्य सभी आपके चरणों में समर्पित करता हूँ।

मैं सब कुछ अपनी स्त्री, पुत्र, धन, घर जो मेरा है वह आपकी सेवा में समर्पित है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि यह समर्पण मात्र प्रभु श्रीकृष्ण को है। इसे आत्म निवेदन भी कहते हैं आत्म निवेदन को याद रखना चाहिए तथा इसका अनुभव किया जाना चाहिए।

श्रीवल्लभाचार्यजी कहते हैं कि इस ब्रह्म सम्बन्ध की आज्ञा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रावण शुक्ल एकादशी की मध्यरात्रि में की। ब्रह्म सम्बन्ध दीक्षा के पश्चात् वैष्णव को कोई भी वस्तु अपने प्रभु को समर्पित करने के पश्चात् प्रसाद रूप से ग्रहण करनी चाहिए।

दीक्षित वैष्णव विवाहानन्तर अपनी स्त्री को प्रभु को प्रणाम करा निवेदन करे कि हे प्रभु! एक नया सेवक आपकी सेवा हेतु प्रस्तुत है। उसे प्रभु की सेवा में समर्पित करता है।

श्रीवल्लभाचार्यजी के कुछ सामान्य उपदेश

श्रीवल्लभाचार्यजी का मत है कि इस कलियुग में शास्त्रों में निर्देशित किसी भी यज्ञ का प्रभाव नहीं होगा। वैदिक यज्ञों की सफलता तब ही सम्भव है कि जब देश, काल, द्रव्य, मन्त्र, कर्ता और कर्म शुद्ध हो। कलियुग में ये सब शुद्ध होना असम्भव है।

प्रभु को प्राप्त करने या मुक्ति प्राप्ति का एक मात्र उपाय भगवान् (प्रभु) भक्ति है न कि और कुछ। भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा ही भक्ति का प्रमुख अंग है। सेवा की नो विशेषताएं हैं वे तीन भागों में विभाजित हैं। भक्ति नो प्रकार की है– श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन। ये नव विधाएं शनैः शनैः स्वीकार की जाती है।

सेवा का अर्थ भगवान् श्रीकृष्ण में लीन होना। सेवा को तीन भागों में विभाजित किया जाता है। तनुजा, वित्तजा और मानसी सेवा। इन तीनों में मानसी सेवा को सर्वोत्तम माना गया है। भक्ति का प्रथम– भगवान् का गुणगान श्रवण से है। द्वितीय प्रभु की लीलाओं का कीर्तन गान है।

प्रभु की लीलाओं का गुणगान शुद्ध (सच्चे) मन से उनके विषय में सुनकर किया जाना चाहिए जिस प्रकार बाढ़ द्वारा गंदगी को बहा दिया जाता है उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं के श्रवण व गान करने से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।

श्रीवल्लभाचार्यजी की कृतियाँ (रचनाएं)

ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीवल्लभाचार्यजी की बहुत सी श्रेष्ठ रचनाएं आज उपलब्ध नहीं है। वे या तो नष्ट कर दी गई हैं या कहीं अज्ञात स्थान पर रखी हैं। उपलब्ध ग्रन्थों में अणुभाष्य सर्व प्रथम है। जो कोई भी हिन्दु शास्त्रों और दर्शन ग्रन्थों में रूचि रखता है तो उसे वेद, ब्रह्मसूत्र पर सबसे सटीक टीका अणुभाष्य के रूप में प्राप्त होती है। अद्यावधि श्रीवल्लभाचार्यजी ही एक मात्र आचार्य हैं जिन्होंने ब्रह्मसूत्र का स्पष्ट अर्थ प्रकट किया हैं।

उनका द्वितीय महत्वपूर्ण ग्रन्थ तत्वदीप निबन्ध है जिसमें शास्त्रार्थ प्रकरण, भागवतार्थ प्रकरण और सर्व निर्णय प्रकरण है। शास्त्रार्थ प्रकरण भागवत, गीता की सर्वश्रेष्ठ टीका है। सर्व निर्णय में सभी सम्प्रदायों के दर्शन का वर्णन है। तृतीय भागवतार्थ प्रकरण में श्रीमद्भागवत का बृहद् और सारगर्भित वर्णन है।

इन ग्रन्थों के अलावा श्रीमद्भागवत पर टीका के रूप में श्रीसुबोधिनीजी प्रसिद्ध है। यह टीका संपूर्ण भागवत पर उपलब्ध नहीं है। श्रीसुबोधिनीजी श्रीमहाप्रभुजी की प्रमुख देन है यह आधिकारिक आलोच्य टीका ग्रन्थ है।

इसमें भागवत का विस्तृत और आधिकारिक वर्णन है। इसके अन्त में सिद्ध किया गया है कि भागवत भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम को अभिव्यक्त करने का एक व्यवस्थित विज्ञान है।

लघु ग्रन्थों में षोडश ग्रन्थ सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं इसमें सोलह ग्रन्थों का संग्रह है। षोडश ग्रन्थ सम्प्रदाय के सिद्धान्तों और विचारों को उल्लेखित करता है। कहा जाता है कि श्रीवल्लभाचार्यजी ने कुल चौरासी ग्रन्थों की रचना की किन्तु उनमें से कुछ ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं।

आचार्य श्री के उत्तर भारत के प्रवास के समय निम्बार्क के प्रसिद्ध विद्वान् केशव कशमीरिन से संपर्क हुआ था। श्रीकेशव ने अपने शिष्य माधव भट्ट को

श्रीवल्लभाचार्यजी की सेवा में भागवत कथा श्रवण करने के रूप में दक्षिणा स्वरूप भेंट किया। माधवभट्ट श्रीवल्लभाचार्यजी के एक प्रभुख शिष्य व भक्त हो गये और वह श्रीवल्लभाचार्यजी के प्रमुख लेखक बन गये।

माधवभट्ट के साथ आपश्री ने अनेकों ग्रन्थों की रचना की। उस अवधि में श्री वल्लभाचार्यजी ने पूर्व मीमांसा, भाष्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य व सूक्ष्म टीका लिखी। वर्तमान में पूर्व मीमांसा, भाष्य का एक भाग उपलब्ध है जबकि सूक्ष्म टीका पूर्णतया अनुपलब्ध है।

सम्प्रदाय का दृष्टिकोण

श्रीवल्लभाचार्यजी ने आज्ञा कि है कि वे भगवान् श्रीकृष्ण के सेवक मात्र है। वैदिक सिद्धान्त है– "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ" गुरु के प्रति भक्ति भगवान् के समान भक्ति जैसी होनी चाहिए। भक्त को ये उपदेश दृश्यमान है। गुरु के उपदेश को भलीभांति समझने के लिए गुरु के प्रति भक्ति वैसी ही होनी चाहिए जैसी भगवान् के प्रति भक्ति होती है।

पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त है कि किसी भी देश में आप रहते हैं और किसी भी समाज के है, कोई भी परिस्थिति हो, प्रभु के प्रति प्रेम रखकर सेवा करते है तो प्रभु को आप सरलता से प्राप्त कर सकते हैं।

हमें ज्ञात है कि मुसलमान भक्त पठान अलीखान, रसखान और ताज बीबी और अन्य अछूत समाज के भक्तों ने इस मार्ग का अनुसरण करके प्रभु को प्राप्त किया है। इस मार्ग के अनुयायी अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन कर सकते हैं जिसका सम्बन्ध शरीर से है परन्तु यह प्रेम मार्ग का सम्बन्ध आत्मा से है। इस भक्ति मार्ग का अनुसरण करने का सभी को अधिकार है। इस मार्ग को हमें श्रीवल्लभाचार्यजी ने बताया है।

यह सर्वोच्च देव मात्र रचयिता, संहारक व पालन कर्ता ही नहीं है अपितु वह हमारे उत्कट प्रेम का प्रतीक है जो इसके उत्कट प्रेम का अनुभव करते हैं वे अत्यन्त भाग्यशाली है किन्तु जो ऐसा करने में असमर्थ हैं उन्हें अपना सर्वस्व भगवान् को समर्पित कर देना चाहिए। सभी से ऐसे उच्चतर तक पहुंचने की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। जो पूर्णतया निरुद्ध हो गये वे इसके उच्चतम

सौन्दर्य को समझ सकते हैं। अभी तक केवल व्रजांङ्नाएं ही भगवान् श्रीकृष्ण के उत्कट प्रेम को समझ सकी है। इसलिए व्रज की नारी, ज्ञानियों से भक्तों से और मुनियों से और यहां तक की नारद, प्रहलाद और वशिष्ठ से भी महान् है। श्रीवल्लभाचार्यजी ने गहन, मनन, अध्ययन, चिन्तन के पश्चात् भक्तिमार्ग का उपदेश दिया क्योंकि वे जानते थे कि इस कलियुग में धर्म के सभी साधन दूषित हो गये हैं। अतः उन्होंने प्रभु की प्राप्ति का नया मार्ग दिखाया। उनके उपदेश बड़े ही सरल है और भगवान् श्रीकृष्ण को प्राप्त करने का एक मात्र साधन है।

निवेदक

त्रिपाठी यदुनन्दन श्रीनारायणजी शास्त्री

अध्यक्ष– विद्याविभाग

मन्दिर मण्डल,

नाथद्वारा

अनुक्रमणिका

जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य जी

इनकी चरण-शरण में आकर दुःखराशि विसारिये ।
इन क्लान्तिनाशक चरण में सिर बार-बार नवांइये ।।

(नोट : यह चित्रपट आजकल श्रीकृष्णगढ़ में बिराजमान है।)

श्रीमद्वल्लभाचार्य और उनके सिद्धान्त

जगद्गुरु आचार्य चूडामणि श्रीमद्वल्लभाचार्य

श्रीमद्वल्लभाचार्य पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन करने वाले साक्षात् वैश्वानर, भक्ति मार्ग का भारत में प्रचार करने वाले वन्दनीय आचार्य एवं धर्मसूत्रों एवं ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य करने वाले अद्भुत प्रतिभाशाली महापुरुष थे। सम्प्रदाय में आप श्रीमहाप्रभु की संज्ञा से प्रसिद्ध हैं। जगत् में आप प्रथम पंक्ति के भाष्यकार सर्वमान्य हैं। व्याससूत्रों पर भारत के प्रायः समस्त आचार्यों ने भाष्य लिखे हैं किन्तु उन सभी ने उन सूत्रों का समन्वय अपने–अपने सम्प्रदाय में किया है। किन्तु श्रीमद्वल्लभाचार्य ने श्रीव्याससूत्रों का यथार्थ अर्थ प्रकट किया है। आपने उन सूत्रों के अर्थ करने में कभी कष्ट कल्पना अथवा दुराग्रह नहीं किया है यही उनकी सर्वमान्य विशेषता और महापुरुषत्व है। आपने वेद, सूत्र, पुराण, इतिहास एवं मीमांसादिक धर्मशास्त्रों का निचोड़ जगत् के सम्मुख प्रकाशित किया है। जहाँ यह हो इसी को पुष्टिमार्ग कहते हैं।

लोकदृष्टि से विचार करने पर भी श्रीमद्वल्लभाचार्य विश्व की विभूति थे। धर्म के ऐसे प्रसिद्ध व्याख्याता एवं ऐसे अपूर्व क्षमताशाली प्रतिभावान् विद्वान् लोकमें बहुत कम अवतार ग्रहण करते हैं। श्रीमद्वल्लभाचार्य एक अत्यन्त उच्च कोटि के तत्त्वेत्ता, धर्मशास्त्र के मार्मिक व्याख्याता एवं भारतवर्ष के प्रथम पंक्ति के दार्शनिक धुरंधर आचार्य थे।

वैष्णव दृष्टि में आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के मुखावतार माने गये हैं। आपका प्राकट्य रहस्य, भक्तों की भक्तिमयी भावनाओं से सुसंवलित है, वे यों हैं– आप भूतल पर पधारे उसके पूर्व आप श्रीगोपीजनवल्लभ श्रीकृष्णचन्द्र के समीप नित्य लीला में विराजमान् थे। भारत की दुर्दशा देख दयामय का दयापूरित हृदय दुःखित हो उठा। कालान्तर में भगवान् की इच्छा हुई कि 'जिस पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन श्रीगोपीजनों ने किया है वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। कालान्तर से वह भारत में नष्ट प्राय हो चुका है। अतएव उसे पुनः प्रकट करना चाहिये।'

यह विचारकर अपने मुखस्वरूप श्रीमद्वल्लभाचार्य को आपने आज्ञा दी कि "आप भूतल पर पधार कर ब्रह्मवाद पुष्टिमार्ग का प्रचलन करिये। मैने श्रीयज्ञनारायण

को उनके वंश में अवतार लेने का वचन भी दिया है। उनके वंश जो ने १०० सोमयाग भी पूर्ण कर लिये हैं अतः वह वंश अत्यन्त शुद्ध और आपके प्राकट्य ग्रहण करने योग्य है। श्रीमद्भागवत जो कि प्रकारान्तर से मेरा ही स्वरूप है आप उसका भी गूढार्थ प्रकट करें।''

श्रीमहाप्रभुजी ने यह आज्ञा शिरोधार्य की

उस समय दक्षिण के कांकरवाड नामक ग्राम में एक विशुद्ध वेल्लनाडु श्रोत्रिय ब्राह्मणों का कुल निवास करता था। इस वंश के प्रसिद्ध महापुरुष श्रीयज्ञनारायण भट्टजी थे। इननें ३२ सोमयाग किये थे। इनकी निष्ठा पर भगवान् प्रसन्न हुए एवं जब वरदान मांगने को कहा तब श्रीयज्ञनारायण भट्टजी ने कहा कि 'दयामय, यदि आप इस दीन पर प्रसन्न हुए हों तो आप एक बार हमारे यहां प्रकट हो नन्दयशोदा के आनन्द' का हमें भी अनुभव कराइये।' भगवान् ने प्रसन्न होकर 'तथास्तु' कहा और आज्ञा दी कि' तुम्हारे यहां १०० सोमयाग पूर्ण होने पर मैं अवतार ग्रहण करुंगा।' फलतः भगवान् इनके यहां १०० सोमयाग पूर्ण होने पर श्रीमद्वल्लभाचार्य के स्वरूप में प्रकट हुए।

आपका प्रादुर्भाव संवत् १५३५ सन् १४७६ के वैशाख कृष्ण एकादशी के मङ्.गलमय दिन को रायपुर के समीप चम्पारण्य में हुआ था। आपश्री के पितृचरण श्रीलक्ष्मण भट्ट सोमयाजी थे। वे कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अधीति तैलंग ब्राह्मण थे। आप की माता का नाम इल्लमागारु था।

आपश्री के वंश के मूलपुरुष श्रीगोविन्दाचार्यजी थे। श्रीमहाप्रभुजी ने जिस जाति में अवतार ग्रहण किया था वह जाति अपनी शुद्धता एवं आचारनिष्ठा में प्रसिद्ध रहती आयी है। आपका गोत्र भारद्वाज एवं आयास्य आङि्.गरस था। आपकी अवटंक 'खम्भपाट्टिवारु' थी और कुलदेवी रेणुका थी। इस कुल में परम्परा प्राप्त वैष्णव दीक्षा ग्रहण करने की प्रथा होने से यह कुल 'वैष्णव' कहा जाता था।

श्रीमद्वल्लभाचार्य ने जिस कुल में अवतार ग्रहण किया था उस कुल में सोमयाग नाम के यज्ञ का भी यथेष्ट प्रचार रहा था। श्रीयज्ञनारायणजी सोमयाजी ने ३२ सोमयाग पूर्ण किये थे। इसी प्रकार श्रीगंगाधरजी ने २८, गणपति भट्ट ने ३०, बालभट्ट ने ५, और लक्ष्मण भट्टजी ने पांच यज्ञ कर सो सोमयाग पूर्ण किये थे।

शास्त्रीय मान्यता यह है कि सो सोमयाग पूर्ण होने से भगवान् स्वयं वहां अवतार ग्रहण करते हैं। तदनुसार भी भगवान् का इस कुल में जन्म लेना सिद्ध होता है।

आपश्री का यथार्थ स्वरूप समझ में आये इसके लिये हम यहां एक व्याख्यान का संक्षिप्त स्वरूप प्रकाशित करते हैं। व्याख्याता संप्रदाय के मर्मज्ञ विद्वान् श्रीरमानाथजी शास्त्री हैं। संप्रदाय के विद्यार्थी गण के लिये यह व्याख्यान आवश्यक होने से यहां पर प्रकाशित करना उचित समझा जाता है।

आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति और रहस्य

१– श्रीमद्वल्लभाचार्य के नाम के साथ 'आचार्य' शब्द है। इस आचार्य शब्द का क्या अर्थ है और भारतीय विद्वानों ने इसका कितना महत्व माना है यह यदि आप लोग प्रथम समझ लेंगे तो आपको श्रीमद्वल्लभाचार्य के चरित्र और गुणों के श्रवण करने में बड़ा आनन्द आयेगा।

२– 'आचार्य' आङ्पूर्वक चरधातु से ण्यत् प्रत्यय लगने से सिद्ध होता है। किसी भी शब्द के अर्थ जानने में व्याकरण कोष और आप्तवाक्य आदि प्रमाणों की आवश्यकता होती है। यहां आचार्य शब्द भी व्याकरण कोष और आप्तवाक्य से एकार्थक ही सिद्ध होता है। **आचर्यते वा आचार्यते येन स आचार्यः।** यह व्याकरण कहता है कि जो वेद वेदाङ्.गार्थज्ञानी तदनुसार आचरण करता हो और लोक को वैसे आचरणों की शिक्षा देता हो वह आचार्य है। इस शब्द का मुख्य प्रवृत्ति निमित्त आचरण है। वह दो तरह से सिद्ध है स्वयं करने से और दूसरों को वैसा आचरण करने से वेदादिशास्त्रोक्त आचारों का जो ज्ञान वह तो अपने आप प्राप्त है। जिसे वेदशास्त्रोक्त आचारों का ज्ञान न होगा वह आप क्या करेगा और दूसरे को उपदेश क्या देगा। इसलिये आचार्य को वेदशास्त्रोक्त आचारों का ज्ञान तो होना ही चाहिये। इसलिये व्याकरण से यह सिद्ध होता है कि जो वेदशास्त्र ज्ञाता स्वयं वेदशास्त्रोक्त आचारों का पालन कर्ता हो और उपदेश के द्वारा लोक से वैसा आचरण कराता हो वह 'आचार्य' है।

३– कोष में लिखा है कि **'मन्त्रव्याख्याकृदाचार्यः'** विचारपूर्वक **एकसूत्रस्यूत** जो मन्त्रों का विवरण करे अर्थात् वेदवाक्य और वैदिकशास्त्रवाक्यों को

वेदसंमत किसी एक सिद्धान्त में समन्वय करता हुआ मंत्र और तदनुकूल शास्त्रों का विवरण करे उसे 'आचार्य' कहते हैं। अभिधान कोश में कहा है कि **'विवृणोति च मन्त्रार्थानाचार्यः सोभिधीयते'** वेद मन्त्र के अर्थों का जो विचार करे वह आचार्य है।

४– आप्तवाक्यभी यही है **'आचिनोति हि शास्त्रणि स्वाचारे स्थापयत्यपि। आचारयति यो लोके तमाचार्यं प्रचक्षते'**।। अर्थात् जो वेदशास्त्रों का आचयन करें। उन्हें वैदिक सिद्धान्त में समन्वित करे। वेदशास्त्रोक्त आचारों का अपने आचरण में स्थापन करे और उपदेश देकर, लोगों से उसका आचरण करावें वह 'आचार्य' कहा जाता है। 'ज्ञानोपदेष्टुराचार्यस्य' इस वाक्य सेश्रीशंकराचार्य श्रीरामानुजाचार्यादिका भी यही तात्पर्य है।

५– यह तो सिद्ध हुआ कि जिसके तीनों प्रकारों मे वेदशास्त्रोक्त आचरण हों वह आचार्य है। किन्तु अब यह विचारना है कि वह कौन होना चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या सन्यासी। इनमें से कौन आचार्य हो सकता है।

६– वेद में एक श्रुति है कि **विद्या ह वै ब्राह्मण मा जगाम गोपाय मा शेवधिष्ठेऽहमस्मि'** इत्यादि। प्रथम ही प्रथम विद्या ब्राह्मण के ही पास आई और बोली कि 'ब्राह्मण देव तुम मेरा पालन करो मै तुम्हारे लिये खास हूं' इस वेदवाक्य से मालूम होता है कि आचार्य ब्राह्मण ही हो सकता है। किन्तु स्मृतियों में युगान्तर में क्षत्रियों से भी ब्राह्मणों को विद्या का दान हुआ है, यह लिखा है 'एवं परंराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः' खास वेदो में भी जीवल के वंश में पैदा हुआ प्रवाहण नामक राजर्षि आचार्य पाया जाता है। इसी राजर्षि प्रवाहणने श्वेत केतु के पिता को पंचाग्निविद्या का उपदेश दिया था। इसलिये मानना पड़ेगा कि ब्राह्मण के श्रेष्ठ रहने पर भी युग के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय ये दोनों आचार्य हो सकते हैं। इन दो के सिवा अन्य को आचार्य होने का अधिकार मिला नहीं है क्योंकि उन्हें ब्रह्मविद्या के दान का अधिकार नहीं है। आदि में ब्रह्मा के द्वारा सर्व विद्याओं का उपदेश हुआ है। ब्रह्मा ब्राह्मण है। ब्रह्मवेत्ता का नाम ब्राह्मण है। ब्राह्मण्य एक देवत्व है वह जिसमें हो वह ब्राह्मण है। ब्रह्मा में वह देवत्व था। जो लोग नाभि से उत्पन्न होने से ब्रह्मा को ब्राह्मणेतर सिद्ध करना चाहते हैं उनकी भूल है। क्योंकि

उस समय जन्म से जाति ही नहीं थी। मैथुन सृष्ट्यनन्तर जन्म से जाति का नियम हुआ है। वह चाहे कश्यप से मानो या मनु से मानो। अतः आजकल ब्राह्मण को आचार्य होने का प्रथम अधिकार है।

७– आश्रमों में भी ब्रह्मचारी गृहस्थ और वानप्रस्थ ये तीनों आचार्य हो सकते हैं। चतुर्थ सन्यासी आचार्य नहीं हो सकता। क्योंकि सन्यासी में आचार्य शब्द के प्रवृत्ति निमित्त का अधिकार निवृत्त हो जाता है। सन्यासी भगवान् हो सकता है आचार्य नहीं हो सकता है।

सलिंगानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः।
बुधो बालकवत्क्रीडेत्कुशलो जडवच्चरेत्।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्या नैगमश्चरेत्।

इत्यादि भाग. ११ स्कं.।

''''''''''ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्वहून्।''''''''''''नोपदिशेत्क्वचित्।

''''''''''पक्षं कं च न संश्रयेत्। इत्यादि धर्म जब सन्यास के प्रवृत्ति निमित्त हैं तब सन्यासी आचार्य हो सकता है कि नहीं यह विद्वान् लोग स्वयं विचार कर लें। विशेष विवेचन हम सन्यास शब्द के प्रवचन में करेंगे।

८– तो यह सिद्ध हुआ कि ब्राह्मण हो तो क्या कहना है, सर्वश्रेष्ठ है। अन्यथा ब्राह्मण वा क्षत्रिय, ब्रह्मचारी ग्रहस्थ वा वानप्रस्थ हो और वेद शास्त्रों का एक वैदिक सिद्धान्त में समन्वय करता हुआ वेदशास्त्रोक्त आचारों का स्वयं पालन करता हो और लोक से पालन कराता हो वह पुरायुग में आचार्य कहा जाता था।

९– यह तो आचार्य शब्द का अर्थ हुआ। अब यह दिखाना है कि भारत वर्ष में आचार्य का मान कितना था।

यह सर्वत्र भारत में मान्यता अब तक विद्यामान है कि आचार्य दूसरा भगवान् है। मान्यता ही नहीं, वेदशास्त्र में वचन भी ऐसे हैं।

वेद में कहा है **'आचार्य देवो भव'** अर्थात् आचार्य ही भगवान् है जिसका, ऐसा हे शिष्य, तू हो' **'आचार्य मां विजानीयात्' 'वेदवेदांगज्ञाता और अध्यापयित आचार्य को मेरा (श्रीकृष्ण का) स्वरूप समझे'** 'आचार्य चैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति' 'प्रभु आचार्य स्वरूप में प्रकट होकर अपने स्वरूप का अपन

माहात्म्य का लोक को ज्ञान कराते है'। युक्ति और अनुभव से भी यह सिद्ध होता है कि यदि शिष्य गुरु को सर्वोच्च मान न देगा तो गुरुगत विद्या उसमें कैसे आयेगी। शास्त्र में लिखा है कि **'गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा। अथवा विद्यया विद्या चतुर्थो नैव विद्यते'**। गुरु को ईश्वरवत् मानकर सेवा करने से विद्या आती है। पुष्कल धन देने से भी विद्या आती है और विद्या के बदले में भी विद्या आ सकती है किन्तु विद्या आने के लिये चौथा उपाय नहीं है। जिन्होंने आचार्य को सर्वोच्च मान दिया उन्हें ही विद्या आई है और जिन्होंने उसमें थोड़ी भी त्रुटि की उन्हे विद्या आने में भी उतनी ही त्रुटि रही है यह हर एक मनुष्य अनुभव कर सकता है।

१०– आचार्य को इतना मान देना निष्कारण नहीं है सकारण है। विद्या के सिवाय आचार्य में अनेक भगवद्गुण होते हैं। प्रथम तो आचार्य आचार्य रूप से भगवान् का अवतार है। भगवान् के छः गुणों में से आचार्य ज्ञान का अवतार है। अत एव आचार्य को भगवान् मानना शास्त्रसंमत है।

११– दूसरे– आचार्य में अनेक भगवद्गुण होते हैं। कितने ही भगवद्गुण जो अवश्य अपेक्षित हैं और आते हैं–वे इस तरह है–

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपस्साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्।।
ज्ञानं विरक्तिः '''प्रभृति।

१२– आचार्य में ईश्वरत्व और आचार्यत्व दोनों होते हैं आचार्यत्व प्रधान होता है और ईश्वरत्व गौण होता है और अवतार में भगवत्त्व प्रधान होता है। गौराङ्ग आदि की अवतारत्वेन प्रसिद्धि है आचार्यत्वेन नहीं। यदि आचार्यत्व होता है वह गौण होता है। कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं सर्व सामर्थ्य ये ईश्वर शब्द का प्रवृत्ति निमित्त है। वह अवतार में ही हो सकता है आचार्य में भी गौण है। ये सामर्थ्य स्वरूप में ही प्रधान है। अत एव उसे प्रमेय बल कहते है। स्वरूप सम्बन्ध मात्र से उद्धार कर देना यह प्रमेयबल का काम है। वह अवतार में होता है। आचार्य में प्रमाण बल है। प्रमेय बल गुप्त है, कार्यकारी नहीं है। अवतार के साथ जीव का किसी तरह का भी सम्बन्ध हो उद्धार हो ज़ायेगा किन्तु आचार्य के साथ सब तरह के सम्बन्ध से उद्धार नहीं हो सकता। उसके साथ प्रमाण सम्बद्ध सम्बन्ध ही होने से उद्धार होता है।

१३– आचार्यत्व जन्म से नहीं विद्या से है और अवतारत्व विद्या से नहीं जन्म से है। अवतार का प्रवृत्तिनिमित्त दूसरा है, आचार्य का प्रवृत्तिनिमित्त दूसरा है। अवतार का प्रवृत्ति निमित्ति स्वरूप सामर्थ्य है और आचार्य का प्रवृत्ति निमित्त वेदशास्त्रोक्त आचरण है। अवतार में ईश्वरत्व प्रधान है इसलिये ही नास्तिकवाद स्वभाववाद कर्मवाद आदि वेद विरुद्धवाद भगवान् में दृष्टिगत होते हैं। किन्तु आचार्य में आचार्यत्व और प्रमाण बल प्रधान होने से वेद विरुद्ध बातों का लेश भी नहीं हो सकता और इसी लिये श्रीमद्वल्लभाचार्य ने आचार्य या गुरु के लक्षण में 'नरम' पद दिया है। अवतार में कहीं नर पद नहीं आता। यदि कहीं आता है तो वहां माया या कपट शब्द अवश्य रहता है। जहां ऐसा नहीं होता वहां विद्वान् टीकाकार अवश्य लगा देते हैं। यहां तक हमने आचार्य शब्द का अर्थ और उसके साथ में जितनी मुख्य अपेक्षित बाते थी कह दी अब इस बातका विचार करना है कियह सब बातें और गुण श्रीमद्वल्लभाचार्य में हैं या नहीं।

श्रीमद्वल्लभाचार्य में भगवत्व आचार्यत्व और भगवद्गुण थे इसके सिद्ध करने के लिये उनका इतिहास और उनके ग्रन्थ ही प्रमाण की जगह लेने पड़ते हैं। यद्यपि कितने ही यह कह सकते हैं कि इसमें पक्षपात की संभावना है किन्तु हमें इस विषय में और उपाय ही नहीं है। मेक्समूलर कैसा था, बुद्ध भगवान् कैसे थे। श्रीशंकराचार्य कैसे थे ये यदि विचार करना पड़े तो वे वे इतिहास और उनके गन्थों को प्रमाणभूत मानने ही पड़ेंगे। पक्षपात एवं अपक्षपात तो विचारक की वाणी से अपने आप स्पष्ट हो जाता है। श्रीमद्वल्लभाचार्यश्री का महत्व वर्णन करते समय यदि मुझे पक्षपात होगा तो वह मेरी वाणी के द्वारा विद्वानों को अपने आप प्रकट हो जायेगा। किन्तु सत्य कथन में इतिहास और उनके ग्रन्थों का आश्रय लेना ही कर्तव्य है।

श्रीमद्वल्लभचार्य श्री के मत पर जितने आक्षेप किये जाते हैं सब झूठे हैं। केवल द्वेष मूलक हैं और बे समझी से किये गये हैं। नई रोशनी वाले जितना कुछ लिख गये हैं सब आर्य समाज की नकल है। उन्होंने अपनी समझ से कुछ भी नहीं लिखा है। 'पुष्टिमार्ग अने महाराजानो पंथ' नामक लिखने वाला अपने आपको 'एक वैष्णव' लिखता है किन्तु यह उसका धोखा देना है।

तिलक या कंठी होने से ही वैष्णव नहीं हो सकता। वैष्णव धर्मों का जो आचरण करने वाला हो वैष्णव शास्त्र को जो पूज्य मानता हो श्रीमद्वल्लभाचार्यश्री में जिसकी पूर्ण भक्ति हो और फिर तिलक कंठी धारण करता हो वह वैष्णव हो सकता है। इस पुस्तक के लिखने वाले में वैष्णवता की तो गंध भी नहीं है किन्तु एक सभ्य और आस्तिक मनुष्य में जो धर्म भावना होनी चाहिये वह भी नहीं है। लोगों को धोखों में डालने के लिये मंगलाचरण में कुछ मायावाद की झलक दिखाता है किन्तु पक्का आर्य समाजी है। श्रीमद्वल्लभाचार्य के चरित्र में जैसे दयानंद ने गप्प लगाई है इसी तरह इसने भी एक एक अक्षर झूंठा लिखा है। सत्यार्थ प्रकाश और ये पुस्तक लेकर बैठ जायें और देख लें कहां तक सत्य कहता हूँ। इस पुस्तक में मंगला चरण की जगह 'ओं' दिया है। यह भी आर्य समाज का संकेत है। फिर लोगों को भ्रम में डालने के लिये मायावाद की झलक दिखाई है **'निखिलगुणविहीनं सर्वथा मेघ शून्यं निगमपथसुगम्यं कल्पिताध्यस्तलोकम्'**। किसी वैष्णव ने ऐसा मंगलाचरण नहीं किया। इस श्लोक की रचना से मालुम पड़ता है कि किसी मूर्ख ने यह श्लोक बनाया है। सबसे जबरदस्त प्रमाण तो यह है कि आर्य समाज का जो मुख्य लक्षण 'मूर्तिपूजा खंडन' है वह इसने सबसे पहले अपने ग्रंथ में किया है और वह भी 'नेदं यदिदमुपासते' इस श्रुतिका मनमाना अर्थ करके। इस श्रुति का सत्य अर्थ क्या है यह मैने मूर्ति पूजा मंडन में लिखा है।

श्रुतिका अर्थ देखिये यह है–

यद्वाचानभ्युदितं येन वागम्युद्यते।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासत।।

यत् लोका उपासते तत् मूर्त्यादिकं त्वं ब्रह्मैव विद्धि। कथं भूतं ब्रह्म, यत् वाचा लौकिकवाण्या वक्तुं न शक्यते। पुनः कथं येन प्रेरकेण वाक् उदिता भवति। अर्थात् जिसकी लोग उपासना करते हैं उस मूर्ति आदि को तू ब्रह्म जान। वह ब्रह्म लौकिक वाणी के द्वारा कहा नहीं जा सकता। उस ब्रह्म की ही प्रेरणा से वाणी का उदय होता है।

कृष्णदेव राजा जो एक प्रसिद्ध और उस समय में दक्षिण का प्रतापी श्रेष्ठ वैष्णव राजा हो चुका है। उसकी सभा में आचार्य और वेदवेदांग के धुरंधर विद्वानों

के मध्य में समग्रवादियों को अपने सिद्धान्त, शास्त्र और वेदयुक्तियों के द्वारा मान्य कराकर सबकी सम्मति से श्रीमद्वल्लभाचार्य ने आचार्य सिंहासन की प्राप्ति की थी। कितने ही दिन पर्यन्त वादकर वेद, व्याससूत्र, गीता और भागवत इन, चार प्रस्थानों से वैदिक ब्रह्मवाद का स्थापन किया था। एक उस दिन ही नहीं किन्तु अपने जीवन का सम्पूर्ण अंश, श्रीमद्वल्लभाचार्यश्री ने ब्रह्मवाद और भक्ति के शुद्ध स्वरूप का स्थापन और वैष्णव सम्प्रदाय की दृढता स्थापन करने में ही व्यतीत किया। एक समय नहीं, तीन बार समग्र भारत की परिक्रमा देकर वैदिक ब्रह्मवाद का प्रचार किया। इस बात का, पुरातन बैठकें, और वहां के, और वहां के पुरातन लेख पत्र, और उस समय के जन समाज की लिखी पुस्तकें गवाही दे रही हैं। प्रचार कार्य से जब जब आपको समय मिला और आप जितने समय अपने घर पर अडेल (प्रयाग) पधारते तब तब समीप में काशी में शास्त्रों की चर्चा होती। जब वहां पूरी न होती तो विद्वान् लोग उनके स्थान पर आकर वाद करते। तब आचार्यश्री ने सब के सुविधा के लिये काशी में जाकर यह पत्र लिखा। समग्रवेद, 'व्याससूत्र, गीता, और श्रीभागवत इन चारों प्रस्थानों से इस तरह ब्रह्मवाद की ही स्थापना होती है और इसी तरह सम्पूर्ण शास्त्रों की संगति वैदिक सिद्धान्त में होती है। जिस किसी को इसमें सन्देह रहे–

वह मुझ से प्रश्न करे में उसे समझाने को तैयार हूँ और इस ब्रह्मवाद स्थापन से काशीपति विद्या के अधिपति श्रीविश्वनाथ मेरे ऊपर प्रसन्न हों।'' यह पत्रावलंबन ग्रंथ काशी में विश्व नाथ के मंदिर पर लटकाया गया। यह ग्रंथ छप चुका है जिस विद्वान् को देखना हो तो देख सकता है। श्रीमद्वल्लभाचार्यश्री के स्वभाव में आडम्बर प्रियता या अपने वैदुष्य के दिखाने की वृथा चेष्टा करना बिलकुल नहीं था। जितना प्रयोजन और जितना अवश्य अपेक्षित था उतने ही वैदुष्य का प्रकाशन किया और वह भी भगवद्आज्ञा से। श्रीमद्वल्लभाचार्यश्री के समय में वेदोपनिषदों पर व्याख्यान, गीता पर व्याख्यान, वेदादि आस्तिक शास्त्रों का प्रामाण्य स्थापन, और भक्ति मार्ग का प्राकट्य हो चुका था अत एव आपने इन विषयों पर विशेष कुछ लिखना व्यर्थ समझकर छोड़ दिया और कह दिया कि **'वेदप्रामाण्यं तु प्रतितन्त्रसिद्धत्वान्न विचार्यते'**। किन्तु वेद के अर्थ करते समय जो अपने तरफ से लोगों ने कुछ का कुछ कर दिया था उसका निरास करना तो अवश्य अपेक्षित था इसलिये ब्रह्म सूत्रों का भाष्य, अनीश्वरवाद हटाने के लिये मीमांसा सूत्र भाष्य, और भक्ति मार्ग के शुद्ध स्वरूप का प्राकट्य करने के लिय

श्रीमद्भागवत की सुबोधनी विवृत्ति किंवा भाष्य बनाया। इन ग्रंथों में सम्पूर्ण वेद और वैदिक शास्त्रों की एक संगति लगाई गई है। ब्रह्मवाद पूर्वक प्रभु के अनन्य प्रेम का ही सम्पूर्ण शास्त्र साक्षात् और परंपरा से वर्णन कर रहे हैं। इस वैदिक सिद्धान्त पर सबकी संगति श्रीमद्वल्लभाचार्यश्री के मत में ही हो सकती है। किसी के मत में ब्रह्मवाद विषय में वेद असंगत रह जाते हैं तो किसी के मत के शुद्ध भक्ति के विषय में वेद असंगत रह जाते हैं। श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने विद्वान् और आचार्य, राजा और राजकीय जनता, सबकी सभा के बीच ब्रह्मवाद और शुद्ध भक्ति मार्ग दोनों में सम्पूर्ण वेद और वैदिक शास्त्रों की संगति का स्थापन किया। श्रीमद्वल्लभाचार्यश्री का यह चरित्र शास्त्र संदेह निरासक है। प्रचार चरित्र में षोडशग्रंथ, निर्माण, निबंध निर्माण, और पृथ्वी परिक्रमा हैं। जो लोग कहते हैं कि वेद में भक्ति मार्ग नहीं है उनकी मूर्खता दिखाने के लिये मैंने अपने छान्दोग्योप निषद् के भाष्य में यह स्पष्ट दिखा दिया है कि उपनिषदों में आद्योपान्त भक्ति मार्ग का ही प्रवचन है। इस तरह इतिहास और आचार्यों के चरित्र से मैंने आप लोगों को यह दिखा दिया कि आचार्य शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त एक श्रीमद्वल्लभाचार्यश्री में ही संगत होता है। अर्थात् आचार्यत्व का सम्पूर्ण मान यदि किसी को हो सकता है तो एक श्रीमद्वल्लभाचार्यश्री को ही है। तुलनात्मक विवेचन करने में बड़ा समय अपेक्षित है इसलिये छोड़ दिया है।

यह मैने इतिहास और चरित्र की दृष्टि से कहा है अब में गुण और ग्रंथ दृष्टि से कुछ कहना चाहता हूँ।

श्रीमद्वल्लभाचार्यश्री के ग्रंथ देखने में थोड़े हैं। अणुभाष्य, सुबोधिनी, तत्वदीप निबंध, षोडशग्रंथ और स्फुट ग्रंथ। ये ग्रन्थ प्रायः सम्पूर्ण मिलते हैं। श्रीमद्भागवत सूक्ष्मटीका, पूर्वमीमांसाभाष्य, प्रभृति ग्रन्थ थोड़े होने का मुख्य कारण यह है कि आचार्यश्री ने कोई नवीन मत नहीं निकाला है। जो मत वैदिक हैं और प्रचलित थे उन्हीं में जो त्रुटियां आ गईं थीं उन्हें दूर करना ही आचार्य का मुख्य कार्य था और इस लिये आचार्य को थोड़ा ही लिखना पडा। किन्तु उसका प्रचार करने में श्रम विशेष करना पड़ा। जो सिद्धान्त पूर्वकाल में फेल चुके थे और जिनका लोगों को अभ्यास हो चुका था उनकी त्रुटि शोधकर उन्हें शुद्ध रूप में प्रसिद्ध करना अवश्य कठिन है और इसी लिये उन्हें तीन बार भारत में चारों तरफ परिभ्रमण करना पड़ा था।

श्रीमद्ववल्लभाचार्यश्री के ग्रंथ विचार रूप हैं तर्क रूप नहीं। विचार साधार है अत एव मीमांसा कहा जाता है। तर्क निराधार है अत एव अनुमान कहा जाता है। मीमांसा के आधार वेद वैदिक शास्त्र हैं और तर्क का आधार बुद्धि के अलावा कुछ नहीं। मीमांसा का अन्त है, तर्क का अन्त्त नहीं। अत एव विचार की प्रामाण्यता है तर्क की नहीं और इसी लिये वेद को प्रमाण मानने वाले विद्वानों ने विचार का ही आश्रय लिया है, तर्क का नहीं। मीमांसा में वेद वाक्य प्रधान और उपजीव्य होते हैं और विचार उनके तात्पर्य का और सिद्धान्त का उप जीवन करता है। तर्क में तर्क प्रधान रहा है और वेद वाक्य उसके पीछे लगा लिये जाते हैं। कितने ही ग्रन्थकारो ने तो स्पष्ट् कह दिया है कि 'एवमागमा अप्यनुसन्धेयाः, इस हमारे अनुमान के साथ अब वेद वाक्य भी जोड़ दिये जांय'। कितनो ही ने युक्ति से यह बात कही है।

बम्बई प्रभृति देश में मकान बनाते समय जैसे प्रथम एक लकड़ियों का आकार प्रकार खड़ा कर लिया जाता है और बाद में उसके अवकाश में ईंट चूना प्रभृति भर लिये जाते हैं इसी तरह प्रथम अध्यासभाष्य प्रभृति तर्क का आकार प्रकार बांध लिया गया है और उसी के अवकाश में सूत्र और वेद वाक्य जोड़ लिये गए हैं। किन्तु श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भाष्य में अपना कोई स्वतन्त्र मत बांधा नहीं है। जो वेद वाक्य से सिद्धान्त निकल आवें, जो मार्ग व्यास सूत्र बतावे उसी के अनुसार विचार करते चले जाना यह श्रीमद्वल्लभाचार्य की ग्रन्थ सरणि है और इसे ही मीमांसा कहना उचित है। इसलिये ग्रन्थसरणि से भी आचार्य शब्द के उचित श्रीवल्लभाचार्य ही हैं।

इसके दो दृष्टान्त देना में उचित समझता हू। कर्तृत्वा–कर्तृत्व विचार और सावयवत्व निरवयत्व विचार। कर्तृत्व विचार में पुरातन दो मत हैं। श्रीशंकराचार्य प्रभृति का मत है कि ब्रह्म अकर्ता ही है उसका कर्तृत्व औपचारिक है और श्रीरामानुजाचार्य प्रभृति का मत है परमात्मा कर्ता ही है अकर्तृत्व तो गौण है औपचारिक है। विचार पूर्वक देखा जाय तो दोनों पक्ष में तर्क को बलवत्ता आती है और वेद वाक्य को गौणता। जब दोनो तरहकी श्रुतियां मिलती हैं तब एक तरह की श्रुति को अवश्य संकुचित करना पड़ेगा। बस इसे ही तर्क की बलवत्ता कहते हैं। श्रीमद्वल्लभाचार्य का मत है कि ब्रह्म दोनों प्रकार का है क्यों कि वेद में दोनों प्रकार

की श्रुतियां है। जब जब वेद में ब्रह्म को कर्ता और अकर्ता दोनों प्रकार का कहा है तो वेद प्रमाण वादी और आचार्य को उचित है कि दोनों तरह का माने। श्रीमद्वल्लभाचार्य की प्रतिज्ञा है कि 'वेदश्च परमाप्तोऽक्षरमात्रमप्यन्यथा न वदति'। यहां एक ही ब्रह्म में कर्तृत्व और अकर्तृत्व होने का विरोध आता है। किन्तु आचार्यश्री ने वेदोक्त मीमांसा के द्वारा ही इसका समाधान कर दिया है। वेद में ब्रह्म को अचिन्त्यैश्वर्य और अलौकिक सामर्थ्य वाला कहा है। अचिन्त्यैश्वर्य और अलौकिकसामर्थ्य ब्रह्म में कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों हो सकते हैं। इस तरह वेदानुकूल मीमांसा सरणिका ग्रहण करने से आचार्य पद के सम्पूर्ण योग्य श्रीमद्वल्लभाचार्य हैं।

निरवयव और सावयव विचार में भी यही बात है। श्रुति ही ब्रह्म को साकार कहती है और श्रुति ही ब्रह्म को निरवयव कहती है। यहां भी श्रीशंकराचार्य का कहना है कि मुख्य ब्रह्म निरवयव ही है, गौण ब्रह्म साकार है। अर्थात् अविद्याकल्पित ब्रह्म तो साकार है और मुख्य ब्रह्म निराकार ही है। इस मत में भी तर्क को बलवत्ता और वेद को दुर्बलता आती है। किन्तु श्रीमद्वल्लभाचार्य का मत है कि ब्रह्म साकार भी है निराकार भी। दोनों तरह का वेद में कथन है इसलिये दोनों तरह का मानना ही आचार्य का काम है। वेद व्यास भी 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' इस सूत्र में ब्रह्म को साकार मानते हैं और उस अपने मत में वेद की आज्ञा को ही कारण बताते हैं तर्क को नहीं। किन्तु श्रीशंकराचार्य प्रभृति अपने अपने मत में 'अविद्याकल्पितरूपभेद' नामक तर्क को प्रधान मानकर वेद को गौण मानते हैं। यहां भी श्रीमद्वल्लभाचार्य ने 'अचिन्त्यैश्वर्य' और 'अलौकिकसामर्थ्य' रूप विचार के द्वारा साकार कहने वाली और निराकार कहने वाली श्रुतियों की संगति बैठाई है। इस तरह ग्रन्थ दृष्टि से भी आचार्यश्री आचार्य पद के मुख्य भाजन हैं।

भगवद्गुण दो प्रकार से आते हैं एक प्रभु के दान करने से, दूसरे प्रभु के आने से उनके गुण भी आते हैं। सत्य शौचादि असंख्यगुण भगवान् में नित्य और सम्पूर्ण रूप से रहते हैं। किन्तु जिसके ऊपर प्रभु का अनुग्रह होता है प्रभु उसे अपने गुण देते हैं। किसी को एक गुण देते हैं किसी को दस पांच। प्रभु का एक एक गुण भी मनुष्य को बड़ा महत्व देने वाला और उद्धार कर देने वाला होता है। हरिश्चन्द्र राजा में सत्य एक ही गुण सर्व प्रधान था।

भगवान् के उतरने से भी भगवद् गुण आते हैं। 'योन्तऽर्बहिस्तनुभृताशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्त्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति' वचन के अनुसार आचार्य प्रभु का

अवतार हैं। आचार्य रूप से प्रभु अवतार लेते हैं। नृसिंहावतार में वपु को कारणता नहीं है व्यापारता है। किन्तु आचार्य में वपु को हेतुता है। इसलिये उस अवस्था में वैध आचार्यता ही प्रकट रहती है। भगवत्ता गूढ है। आचार्य में भगवत्त्व भी होने से श्रीमद्वल्लभाचार्यश्री में भी अनेक भगवद्‌गुण हैं। 'सत्यं शौचम्' इत्यादि।

सत्य भगवद्‌गुण है। जिसमें सत्य रहना है वह निर्भय देखने में आता है। अभय देवी संपत् की पहली संपत् है। श्रीमद्वल्लभाचार्य ने जितना लिखा है सत्य लिखा है आचार्यश्री में मनसा वचसा कर्मणा सत्य है। यह उनके ग्रंथों को विचार पूर्वक, देखने वालों को स्पष्ट मालुम पड़ेगा। आपने कहा है कि वैदिक साधन यद्यपि जीवोद्धार करने वाले हैं तथापि अधिकार और काल से प्रतिबद्ध हैं। जिनको वैदिक साधनों का अधिकार ही नहीं है उनका उद्धार कैसे हो सकता है। अथवा जिनका है और नहीं करते या नहीं कर सकते उनका उद्धार कैसे हो सकता है और जो लोग वैदिक साधन करते हैं वे विधि से हीन और दोष युक्त करते हैं फिर उनका भी उद्धार कैसे हो। देश काल द्रव्यकर्ता मंत्र और प्रकार इन छः के शुद्ध हाने से कर्म शुद्ध होता है और तब ही वैदिक साधन सिद्ध होते हैं। ये छहों शुद्ध मिलने कलियुग में असंभव हैं। पक्षपात का चश्मा हटाकर विचार पूर्वक देखोगे तो मालुम पड़ेगा कि इनमें से एक भी शुद्ध नहीं मिलता।

तो यहां एक प्रश्न हो सकता है कि ऐसी अवस्था में क्या धर्म करना ही छोड़ दें ? तो आचार्यश्री उत्तर देते हैं कि नहीं, धर्म मार्ग का परित्याग कभी नहीं करना चाहिये। किन्तु धर्म के साथ ईश्वर का आश्रय लो। ईश्वर सर्व समर्थ है असाधनों को भी साधन कर सकता है। जो कार्य प्रमाण बल से नहीं होता वह प्रमेय बल से हो सकता है। श्रीकृष्ण के दृढ आश्रय से सब सहज हो जाता है। कृष्णाश्रय प्रभृति ग्रन्थों का यही तात्पर्य है–

गंगादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम।।

कर्मठ लोग कर्म के अन्त में 'मन्त्रहीनं' 'यस्य स्मृत्या च नामोक्तया' आदि श्लोक बोलते हैं उनका भी यही तात्पर्य है। प्रमाण में प्रमेय बल लाने के लिये ही यह बोले जाते हैं। इस सत्य को किसी ने नहीं कहा। यह तो एक नमूना है। समय थाड़ा है नहीं तो आचार्यश्री की सम्पूर्णवाणी में मैं सत्य निदर्शन कराता।

शौच (पवित्रता) गुण भी भगवद्गुण है और यह भी आचार्यश्री में हैं। तत्वदीप में आपने कहा 'स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्। इन्द्रियाश्वविनिग्राहः सर्वथा न त्यजेत्त्रयम्' अपनी शक्ति के अनुसार वर्णादि धर्मो का आचरण, अधर्म से निवर्तन, और इन्द्रियों को रोकना, इन तीनों का परित्याग किसी तरह से भी वैष्णव न करे। इस पर भी टीका करते हुए आज्ञा करते है कि 'शक्त्या' यह पद 'स्वधर्माचरणं' के साथ लगाना, अन्य के साथ नहीं। अर्थात् स्वधर्म तो भले अपनी शक्ति के अनुसार करे किन्तु विधर्म से निवर्तन, और इन्द्रियनिग्रह तो शक्ति न रहने पर भी न छोड़े। 'अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यसामर्थ्यभावनात्। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।' मन को रोकने में प्रकार–पर वह अधिक है।

दया और शान्ति भी भगवद्गुण है। इनके विषय में आप कहते है कि–

''दयया सर्वभूतेषु''.............................. । निबंध
''सर्वं सहेतपरूषं सर्वेषां कृष्णभावनात् ।''
''त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा ।''

विवेकधैर्याश्रय।

'सर्व प्राणियों पर दया रखने से प्रभु जल्दी प्रसन्न होते है' जो दुष्ट लोग अपने साथ दुष्ट व्यवहार करे और क्रूर वचन बोलें तो उन्हे कृष्णमय समझकर सहन करना चाहिये। यह शान्ति किस में है। क्राइष्ट में लोग दया कहते है किन्तु उनका ज्यादा में ज़्यादा यह वचन है 'किसी को दुःख मत पहुंचाओ। जो तुम्हारे थप्पड दे उसे दूसरा गाल भी मारने के लिये दे दो' किन्तु यहाँ तो बात ही दूसरी है। आचार्यश्री आज्ञा करते है कि पतिव्रता स्त्री जैसे अपने पति की लात भी प्रसन्नता से सहन करती है भगवद्भक्त जैसे प्रभु के तरफ से आते दुःखों को प्रभु की लीला समझकर सहन करता है। इसी तरह दुष्ट को कृष्ण मय समझ कर उसके दिये दुःखों को सहन करना चाहिये।

आर्जव (सरलता) गुणभी आचार्यश्री में असीम है। आज्ञा करते है कि 'सुज्ञेषु हस्तयुगलं पुरतः प्रसार्य' 'अहंकार न कुर्वीत मानापेक्षां च वर्जयेत्।'

अहंकार कभी न करे और मानकी अपेक्षा भी न रक्खे। त्याग संतोष और उपरति (लाभ में औदासीन्य) ये गुण भी भगवदीय हैं। जहां भगवान् विराजते हैं वहां ये गुण भी होते हैं। आजकल का त्याग और संन्यास तो त्याग कहने के

योग्य ही नहीं है किन्तु जो त्याग भगवद्गीता में समझाया है वह त्याग श्रीमद्वल्लभाचार्य में जन्म से था यह आप उनके चरित्र से जान सकते हैं। अपने जीवन मे आपने मठस्थापन आदि कोई कार्य नहीं किया। श्रीगोवर्धनधरण का जब प्रादुर्भाव हुआ तो उनका भी कार्य भार बंगाली ब्राह्मणों को सौंप दिया। श्रीकृष्णदेव राजा ने जब सुवर्ण दीनारों पर आचार्य सिंहासन स्थापन कर आचार्य का कनकाभिषेक किया उस समय भी उसमें से केवल मोहर मात्र लेकर प्रभु के समर्पण कर दी। इस से आप लोग आचार्यश्री के त्याग, संतोष और उपरति गुणों का अनुमान कर सकते हैं। निबंध में आप आज्ञा करते हैं कि–

धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
कृष्णार्थं तत्प्रयुंजीत कृष्णोऽनर्थस्य वारकः।।
गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते।
कृष्णार्थं तन्नियुंजीत कृष्णः संसारमोचकः ।।

धन में पंचदश अनर्थ हैं इस लिये सब तरह से धन का त्याग करना चाहिये। वह यदि सर्वथा नहीं ही छोड़ा जाय तो फिर उसका उपयोग श्रीकृष्ण में ही करे। क्योंकि श्रीकृष्ण अनर्थ के नाश करने में समर्थ हैं। घर में रहने संसार में ही (अहंता ममता में) फस जाता है इसलिये गृह का सब तरह से त्याग कर दे और यदि उसका त्याग करना अशक्य हो तो उसका उपयोग श्रीकृष्ण में कर दें। श्रीकृष्ण संसार से छुड़ाने वाले हैं।''

श्रीलक्ष्मणभट्टजी

श्रीवल्लभाचार्य के पिता का नाम श्रीलक्ष्मणभट्टजी था। श्रीलक्ष्मणभट्टजी इनका जन्म कब हुआ यह अभी तक कुछ निश्चय नहीं हो सका है। इनके एक भाई भी थे जिनका नाम जनार्दन भट्ट था। ये छोटी अवस्था में ही पितृविहीन हो गये थे। फिर भी माता के अनवरत अध्यवसाय से आप खूब पढ़ लिख कर बड़े विद्वान् हो गये थे। ऐसा सुनने में आता है कि आपका अध्ययन आपके माता महके द्वारा हुआ था।

श्रीलक्ष्मणभट्टजी एक समर्थ विद्वान् थे। विद्याध्ययन के अनन्तर आपश्री ने विद्यानगर के सुप्रसिद्ध सुशर्मा नाम के एक स्वजातीय ब्राह्मण की कन्या इल्लमागारु के साथ पाणिग्रहण किया था।

भगवान् ने पूर्व में आपके पूर्व पुरुष यज्ञनारायणजी को वरदान दिया था कि तुम्हारे यहां सो सोमयाग पूरे होने पर मैं स्वयं तुम्हारे यहां अवतार धारण करूगा। फलतः श्रीलक्ष्मणभट्टजी ने सो सोमयाग पूर्ण भी कर दिये थे अतः वहा ही आपने अवतीर्ण होने का निश्चय किया।

श्रीलक्ष्मणभट्टजी विद्यानगर के राजपुरोहित सुशर्मा नाम के एक स्वजातीय ब्राह्मण की कन्या इल्लमागारू से विवाहित हुए थे यह हम पूर्व में कह आये हैं। उनका बहुत सा समय काशीजी में ही व्यतीत होता था। किन्तु उन दिनों यवनों का उपद्रव काशी में विशेष रीति से था। इससे आप ऐसे स्थलपर रहना उचित न जान अपनी पत्नी को लेकर काशी से चलकर दिये। किन्तु मार्ग में ही प्रभु की इच्छा से इल्लमागारू के गर्भ का चंपारण्य में पात हुआ। गर्भ को निर्जीव मान दंपति उसे एक शमी वृक्ष के नीचे पत्रों से ढक चल दिये। यवनोपद्रव शान्त होने पर पुनः काशीजी आते समय जब उसी मार्ग से ये लोग निकले, तब उसी शमीवृक्ष के नीचे एक अद्भुत चमत्कार दिखलाई दिया। दम्पति ने देखा कि शमीवृक्ष के आग एक अत्यन्त तेजवान् अग्नि का मण्डल है और उस मंडल के मध्य में एक अत्यन्त ही सुकुमार और तेजस्वी बालक पड़ा हुआ खेल रहा है। बालक को देखते ही माता के दोनों स्तन पयःपूरित हो गये और एक अद्भत स्नेह स्रात दंपति के हृदय में प्रवाहित होने लगा। इल्लमागारू ने कहा 'स्वामिन्, यह पुत्र तो मेरा हैं।' तब लक्ष्मणभट्टजी ने कहा 'भद्रे, यदि पुत्र आपका है तो अग्नि आपको मार्ग दे देगी। आप इसे लेलो।' इल्लमागारू जैसे जैसे पुत्र के समीप जाने लगो अग्निदेव भी वैसे ही वैसे लोप होते चले गये और अंत में इल्लमागारू ने अपने हृदय के रत्न को उठा लिया।

इस प्रकार भगवान् श्रीवल्लभाचार्य का भी जन्म श्रीकृष्ण की भांति हुआ था। चंपारण्य को जाने के लिये पहले भुसावल जाना चाहिये वहां से नागपुर, नागपुर से रायपुर और रायपुर से होकर राजिम। वहां से तीन या चार माइल के अनन्तर चम्पारण्य मिलता है।

श्रीलक्ष्मणभट्टजी के ३ पुत्र और दो कन्या हुई। प्रथम पुत्र का नाम नारायणभट्ट था। आपश्री को बहुत शीघ्र ही वैराग्य प्राप्त हुआ और आप घर से चल दिये। सन्यासावस्था में आपने अपना नाम केशवपुरी रक्खा था। तंबोबल से इनमें ऐसी

सिद्धि प्राप्त कर ली थी कि वे पग में पादु का पहिन कर गंगाजी में उस प्रकार चलते थे जिस प्रकार साधारण मनुष्य पृथिवी पर चलता हो।

श्रीमद्वल्लभाचार्य, प्रभु के आचार्य रूप में अवतार हैं और वे लोक कल्याण के लिये ही भारत वर्ष में पधारे यह बात हम नहीं मानते किन्तु यह मान्यता श्रीमहाप्रभु की भी थी यह बात आपके ग्रन्थों के पाठ करने से भली भांति पाई जा सकती है। भारत वर्ष में यह कोई नई बात नहीं है। रामानुज, मद्धव, निम्बार्क चैतन्यादि महान् विभूति भी अपने २ जन्म का खास प्रयोजन मानती थीं। इस लिये यदि महाप्रभुजी ने अपने आपको वैश्वानर अथवा और कुछ माना हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

कुछ भी हो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक ब्रह्मवाद के स्थापक एवं शुद्धाद्वैत को समझाने वाले श्रीमद्वल्लभाचार्य एक अत्यन्त मेधावी, एक परम पवित्र आचार्य, एक अत्यन्त सरल और विद्वान् तेजस्वी ब्राह्मण थे। आपकी शक्ति के सन्मुख उस समय के बड़े से बड़े विद्वान् ब्राह्मण भी शास्त्रार्थ में पराभव को प्राप्त हुए थे और कृष्णदेव राजा की सभा में तो आपने अपने अद्भुत पराक्रम से समस्त पण्डित मण्डली को परास्त कर दी थी। आश्चर्य की बात तो यह है कि उस समय उनकी अवस्था केवल १४ साल की ही थी।

श्रीमदाचार्यचरणका स्वरूप

आपके नाम तथा गुण और स्वरूप, श्रीसर्वोत्तमजी, श्रीमदाचार्यचरण का स्वरूप श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृत और श्रीवल्लभाष्टक में विस्तार पूर्वक वर्णित किये गये हैं। वास्तव में देखा जाय तो महाप्रभुजी के स्वरूप को समझना बड़ा कठिन है। प्रभु कृपा से ही उनके स्वरूपं को समझा जाता है श्रीगीताजी में भगवान् ने प्रतिज्ञा की है कि–

यदायदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

फलतः अधर्म को दूर कर धर्म का स्थापन करना और अपनी लीला के द्वारा भक्तों का निरोध करना ही भगवान् का आचार्य रूप से एकान्त आविर्भाव कारण है। भगवान् ने जब देखा कि पृथ्वी पर से ब्रह्मवाद गुप्त होता चला जा रहा है और उस पर मिथ्यावाद का साम्राज्य धीरे २ दृढ़ हो रहा है तब आपने

मिथ्यावादादि दूर करने के हेतु और शुद्धाद्वैत को पुनः प्रचलित करने के लिये तथा दैवी सृष्टि को कृतकृत्य करने के लिये भूतलपर आचार्य रूप से पधारने का अनुग्रह किया।

आपके प्रकट होने का एक कारण और भी था। आपके पूर्व जितने आचार्य हो गये थे उनने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य किया था। कितने ही ने श्रीभागवत की भी टीकाएं की थीं किन्तु उनसे लोकापकार की जितनी आवश्यकता थी उतनी पूर्ति न हुई। इसके अतिरिक्त सूत्रों का अर्थ अक्षरों को खींच तान कर अपने २ सिद्धान्त में बैठाने का प्रयत्न किया गया था और श्रीभागवत का तो अर्थ ही मानों और हो गया था। इसके लिये इन दोनों ग्रन्थों का समन्वय करने के लिये भी आपका प्रादुर्भाव हुआ था। भगवान् को प्रिय लगे ऐसा अर्थ भगवान् के मुख के सिवाय और कौन व्यक्त कर सकता है। इसलिये भगवान के मुखारविन्द श्रीमहाप्रभुजी का भूतलपर प्राकट्य हुआ। आपका सामर्थ्यभी अकठित था।

भगवान् के मुख से अग्नि प्रकट होता है। 'मुख अग्नि है' यह बात शास्त्रों में पाई जाती है। आधिदैविक अग्नि का स्थान भगवान् का मुखारविन्द है। निःसाधन जीवों के सर्वदोषों को भस्म कर तथा उन्हें अपना प्रिय बनाकर अपने शरण में लेने के लिये अग्नि की आवश्यकता थी। श्रीमहाप्रभुजी भी भगवान् के मुखार विन्द की आधिदैविक अग्निरूप भूतल पर प्रकटित हुए थे। इसलिये आपकी शरण जाने वालों के सर्वदोष आप निवृत्त कर देते हैं इसीलिये आपका एक नाम 'वैश्वानर' भी है।

अन्तःकरण प्रबोध की टाका में लिखा है की भगवान् को स्वरूप बल से उद्धार करने की उस समय इच्छा नहीं थी। किन्तु आपने अपने वचनामृतों से जीवों का उद्धार करना यह मन में ठान साधारण मनुष्यवत् देह धारण कर आप श्रीमदाचार्य के स्वरूप में यहां पधारे थे। आप यद्यपि देखने में साधारण मनुष्य मात्र थे किन्तु आप फिर भी श्रीकृष्ण ही थे। यह बात आपके अलौकिक चरित्र से ही भगवदीय जन जान गये थे। भगवान् ने अपना उत्तमोत्तम भावसौन्दर्य श्रीमहाप्रभुजी में नित्यलीला के रमण समय में पधराया था। श्रीमदाचार्यचरण प्रभु की प्रत्येक लीलां का अनुभव करते मानों प्रभु की लीला का अनुभव करने में साक्षीरूप होकर आप विराजते थे।

श्रीमदाचार्यचरण का स्वरूप हमें स्पष्ट रीत्या दिखाई दे इसके लिये हमारा परम कर्तव्य है कि हम उनकी लीला का स्मण सतत करते रहें। हमारे निरन्तर आपके स्वरूप का विचार करने से श्रीमहाप्रभु अवश्य ही हमारे हृदय में पधारेंगे और इसी से हमें आपकी गूढवाणी समझने में सुविधा होगी। इसके लिये हृदय में परम श्रद्धा होनी अत्यन्तावश्यक है। भगवान् श्रीकृष्ण का सम्बन्ध भी आप ही की कृपा से होना साध्य है। हमेशा तुलसी माला में श्रीमदाचार्य का नाम स्मरण करना चाहिये। यह बात भी अवश्य याद रखनी चाहिये कि श्रीमहाप्रभुजी के आश्रय से संप्रति सर्व गोस्वामी बालक भी जीवों के उद्धार करने में समर्थ हैं।

श्रीमहाप्रभुजी का प्राकट्य यदि भूतलपर न हुआ होता तो ?

यदि हमारे अभाग्य वश श्रीमदाचार्यचरण भूतल पर न पधारते तो हमें कितनी हानि होती उसका अनुमान हम नहीं कर सकते। वे नहीं पधारते तो इस दैवी सृष्टि को श्रीवृजाधीश की प्राप्ति कहां से होती? और इस प्रकार सृष्टि भी व्यर्थ हो जाती। वे यहां न प्रकट होते तो प्रेम की पराकाष्ठा रूप निर्गुण पुष्टिभक्ति का दर्शन कौन कराता ? शुद्ध ब्रह्मवाद का स्वरूप कौन समझता ? श्रीमद्भागवत के गूढ तत्व को कौन प्रकटित करता? और निःसाधन जीवों के लिये ब्रह्मसंबंध मंत्र कौन निर्मित करता ? आपने ही परम कृपालु हो यहां पर जन्म ग्रहण किया। सर्वसामान्य शरण मार्ग की स्थापना की जिसमें उद्धार लायक सर्वजीवों का अधिकार है और वह सर्वत्र आचरणीय हो सकता हैं कलियुग में तो इसी से उद्धार हो सकता है।

श्रीवल्लभाचार्य का जीवन चरित्र

पुष्टिमार्गीय वैष्णवों का यह सबसे बडा कर्तव्य है कि वे अपने आचार्य और इस मार्ग के संचालक भगवान् श्रीवल्लभाचार्यचरण के जीवन चरित्र को जानें और उसे मनन करे। जो वैष्णव होकर भी श्रीमहाप्रभुजी के जीवन का ज्ञान नहीं रखता वह वैष्णव अपने को नहीं कह सकता। इसलिये वैष्णवों को आपश्री का अद्भुत जीवन चरित्र अवश्य मनन करना चाहिये।

ब्रह्मवाद के संस्थापक हमारे परम माननीय भगवान् श्रीवल्लभाचार्य का प्रादुर्भाव मध्यप्रान्त में रायपुर जिला के राज ग्राम समीप चम्पारण्य में वेल्लनाडू ब्राह्मण कुल में सन् १४७६ में हुआ था। जिस समय मनुष्य का साधारण रीत्या

बाल्यकाल हुआ करता है। अर्थात् जिस अवस्था में बालक खेला करता है उस अल्पावस्था में आपने वेद, उपनिषद् स्मृति, पुराण, इतिहास तथा दर्शन इत्यादि आकर ग्रन्थों का अभ्यासपूर्ण कर दिया था। यह था आपकी एक अत्यन्त ही मेधावी बुद्धि का साधारण परिचय। अभ्यास काल में ही, अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा श्रीशंकरादि प्रतिपादित वादों के गुण दोष समीक्षा कर ली थी। अभ्यास काल में ही अपने गुरु के यहां आप श्रीशंकरादि प्रतिपादित वादों के दोष छात्रों को बताते थे। तथा यदि कोई छात्र उस समय आपसे इस विषय में वाद करता था तो आप अपनी अद्भुत मेधा और अकाट्य प्रमाणों के बल से निरस्त कर देते थे। उस समय सारी विद्वन्मण्डली में श्रीशंकराचार्य प्रतिपादित मायावाद ही अपना प्रभाव जमाये हुए था। किन्तु आचार्यचरण ने इन सब वादों का खूब मनन पूर्वक अभ्यास कर उद्घोषित किया था कि ''श्रीशंकराचार्य का ही मत नहीं किन्तु श्रीरामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत और श्रीमध्वाचार्य का द्वैतवाद भी सर्वांश में ब्रह्मसूत्रानुसार ठीक नहीं कह सकते। 'अथ च' ब्रह्म सूत्र का वास्तविक अर्थ प्रकट करनेवाला भाष्य अभी तक हुआ नहीं है।'' अपने अभ्यास क्रम में ही साधारण वादों के अवसर में उनने स्पष्ट प्रमाणित किया था कि ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता इन प्रस्थान त्रय के अनुसार यदि जगत् में कोई भी वाद है तो वह केवल ब्रह्मवाद हैं एवं वह वाद मायावाद और दूसरे वादों से अलग अपना विचार स्थापित करता है। आपका यह वाद छात्रों की परिषद् तक ही परिमित न रहता किन्तु काशीजी में जब २ कोई विद्वानों की सभा होती और जब जब कोई दिग्गज विद्वान् का समागम आपको होता तब २ आप अपने इस ब्रह्मवाद की कथा छेड़ देते और अपनी बाल्यावस्था में ही विद्वानों के मन पर अपने विशिष्ट पाण्डित्य का भारी भार लाद देते।

इस अद्भुत मेधावी ब्राह्मण कुमार ने अपनी ग्यारह वर्ष की अवस्था ही में अपना अभ्यास पूर्ण कर डाला! समस्त वेद, वेदांग, उपनिषद्, पुराण, स्मृति, इतिहास दर्शन इत्यादि आकर ग्रन्थों का मनन पूर्वक अभ्यास उस समय पूर्ण किया जब कि साधारण मनुष्य अपनी उस अवस्था में कुछ लिखना पढ़ना सीखने लगता है। भाग्यवश इसी वर्ष आपके पिता ने गौलोक प्राप्त किया। यह बहुत ही ठीक हुआ कि आपके अभ्यास क्रम में इनके पिता ने इनको न छोड़ दिया। नहीं तो आपको न जाने कितनी बाधाएं सहन करनी पड़ती। आपने अपने अध्ययन काल की समाप्ति कर अपने ब्रह्मवाद को सर्वव्याप्त करने का दृढ निश्चय किया,

और इस निश्चय को कार्यरूप में परिणत करने की इच्छा से आपने विद्वानों के दुर्ग और सरस्वती के विहार स्थान श्रीकाशी क्षेत्र में अपने ब्रह्मवाद का उपदेश देना प्रारंभ किया। आपका उपदेश देने का ढंग बडा रोचक और कुतूहलवर्धक था। अपने ब्रह्मवाद की स्थापना करने के अर्थ वे कभी किसी चलती हुई गाड़ी पर चढ जाते और जहां विद्वानों का घर होता वहां आप अपने ब्रह्मवाद का व्याख्यान देते हुए निकल जाते थे। कभी विद्वानों के घर के सामने वाली छत्त पर खडे हो जाते और अपने ब्रह्मवाद का मण्डन करते। सायंकाल श्रीगंगाजी के तटपर जिस समय विद्वान लोग सायं संध्या करते उस समय महाप्रभुजी वहां पहुंचकर अपनी ब्रह्मवाद की चर्चा को छेड़ देते। काशी का ऐसा कोई भी घर या रास्ता नहीं था जहां महाप्रभुजी के ब्रह्मवाद की ही चर्चा न हो रही हो। सब काशी मानो ब्रह्मवाद से पूर्ण हो चुकी थी।

काशीजी में जब आपने अपने ब्रह्मवाद का प्रभाव जमा दिया और क्या विद्वान् और क्या नगरवासी सब जब आपकी विद्वत्ता के प्रभाव से प्रभावित हो चुके तब आपने अपने इस ब्रह्मवाद को समस्त भारत वर्ष में फैलाने का निश्चय किया। किन्तु यह निश्चय जब तक आप भारत वर्ष में सर्वत्र न घूमें तब तक पार नहीं पड सकता था इसी लिये आपने अपने ब्रह्मवाद या पुष्टिमार्ग को सर्वमान्य करने के लिये पृथ्वी प्रदक्षिणा करने का निश्चय किया। इस निश्चय के अनुसार आप काशीजी से व्यंकटगिरि गये। आपने वहां पर श्रीलक्ष्मणबालाजी के दर्शन किये तथा थोड़े दिन वहां ही विश्राम भी किया। किन्तु यह समय भी आपने अपनी अपूर्व बुद्धिमानी के प्रभाव से खाली नहीं जाने दिया। आपने वहां के पुस्तकालय को इस बीच खूब देखा। तथा भक्ति विषयक यावद् ग्रन्थों का आपने वहां ही अवलोकन भी किया। सौभाग्यवश इसी अवसर पर आपने सुना कि तुंगभद्रा नदी पर स्थित बलवान् हिन्दू राज्य विजय नगर के राजा श्रीकृष्ण देवराय ने एक धर्म संबंधी महत्परिषद् का आयोजन किया है। कृष्णदेव राजा स्वयं भी एक विद्वान् और कवि था। किन्तु जब श्रीशंकराचार्य के अनुयायी श्रीव्यास तीर्थ श्रीशंकराचार्य प्रतिपादित मायावाद सर्ववादों में श्रेष्ठ है यह उपदेश राजा को देने लगे तब राजा ने एक ऐसी सभा बुलाने का विचार किया जिसमें भारत वर्ष के सब मत के अनुयायी सब विद्वान् निमंत्रित होकर आयें और कौन सा धर्म अथवा वाद श्रेष्ठ है उसका निर्णय करें। फलतः ऐसी ही एक महासभा का आयोजन होने लगा

तथा भिन्न २ देश के भिन्न २ विद्वान् भी निमन्त्रित कर बुलाये जाने लगे। जब सब बडे २ विद्वान् उपस्थित हो गये तब राजा ने दीनता के शब्दों में कहा–"उपस्थित पूज्य और सम्माननीय गुरुवरों, मेरी इच्छा है कि आप लोग कौनसा मत श्रेष्ठ है इसका निर्णय कर मुझे बतलावें ताकि मैं अपना मत उसे ही स्वीकार कर और अपने जीवन को उसी मार्ग में ले जाऊं।" राजा के इन वचनों को सुन पण्डितों ने शास्त्रार्थ करना प्रारंभ कर दिया। सभा में खूब बडे २ विद्वान् थे अतएव उनका शास्त्रार्थ भी ऐसा वैसा नहीं था अतः यह शास्त्रार्थ बहुत दिन तक चला।

अन्त में जब कि श्रीशंकराचार्य के अनुयायी जीतने वाले ही थे श्रीवल्लभाचार्य ने विजय नगर की इस सभा में प्रवेश किया। उस समय ऐसा दृश्य उपस्थित हुआ था मानों बलिराजा की सभा में भगवान् वामन का प्रवेश हुआ हो अथवा कंसाराति भगवान् श्रीकृष्ण ने मानो कंस सभा में प्रवेश किया हो ! राजाने देखा मानों उसके एकान्त उद्धारक करुणाकर गुरू का पदार्पण सभा में हो रहा है। व्यास तीर्थ ने देखा मानों उनका प्रतिद्वन्दी उन्हें परास्त करने चला आ रहा है! वैष्णवों ने देखा मानों उनका रक्षक भगवान इस शरीर में आ रहा है। सारी सभा महाप्रभु के वहां पदार्पण करने पर कुछ क्षण तक स्तब्ध हो गई! उस अपूर्व ब्रह्मचारी वेश धारी ब्राह्मण बालक के अद्भुत तेज के आगे सब निस्तेज हो गये। जैसे सूर्य के प्रकाशित होने पर तारागण। मित्र, शत्रु, उदासीनवादी, प्रतिवादी सभी ने अपने अपने आसन से उठकर इस अद्भुत बालक का अभिवादन किया। श्रीमहाप्रभुजी ने भी इनके इस विनय का यथोचित उत्तर दिया। अनन्तर आपने अपने स्वाभाविक मधुर किन्तु स्पष्ट स्वर में पूछा "वाद किस विषय पर हो रहा है ?" जब आपको यथोचित उत्तर दिया गया और सभा की परिस्थिति जब उनके ध्यान में आ गई तब आपने अपने ब्रह्मवाद का पक्ष लेकर शास्त्रार्थ करना प्रारंभ किया। आपने उस सभा में और सब सम्मान्य विद्वानों के सम्मुख यह सिद्ध कर दिया कि यदि जगत् में कोई वाद श्रेष्ठ और सम्मान्य है तो वह ब्रह्मवाद ही है। श्रीशंकराचार्य का मायावाद अथवा श्रीरामानुजाचार्य या श्रीमध्वाचार्य के वाद भी दोष से मुक्त नहीं हैं। यदि वेद, गीता या ब्रह्मसूत्र का और उनके साथ श्रीभागवत का भी यथार्थ अनुसरण करता हुआ कोई भी वाद है तो वह ब्रह्मवाद ही है और निर्दुष्ट है तो वह भी ब्रह्मवाद या पुष्टिमार्ग ही है। खूब वाद होने के अनन्तर सर्व विद्वानों ने आपके एवं आचार्य के विजय को मान्य किया और सब विद्वानों ने एक

मत हो आपको 'महाप्रभु' की पदवी जो राजा से दी गई उसे संगत की। आपके विजय पर राजा आपके चरणों पर गिर पड़ा और अपने हृदय से उन्हें अपना गुरु मानने लगा। इतना ही नहीं राजा ने सर्व प्रजाजनों और विविध देश के सर्व मत के सर्व विद्वानों के सम्मुख श्रीमदाचार्यचरण का कनकाभिषेक किया। यह स्मरणीय घटना सन् १४६३ में घटी जिस समय आपकी अवस्था यौवन के पूर्व की थी। इस समय से आप श्रीवल्लभाचार्य के साथ ही 'श्रीमहाप्रभु' के नाम से संबोधित होने लगे। आपने अपनी विजय में जितना भी द्रव्य मिला था उसे केवल अपनी प्रभु सेवा में उपयोगी कुछ अंश को छोड़कर ब्राह्मण वर्ग को दान दे दिया था। ऐसा था श्रीमदाचार्यचरण का अपूर्व त्याग और आत्म संयम।

विद्यानगर से आप पर्यटन करने तथा समस्त भारतवर्ष में अपना ब्रह्मवाद स्थापित करने चल दिये। उस समय दक्षिण देश विद्वानों का निवास स्थान हो रहा था इस लिये पहले आंपने वहां ही जाकर दिग्विजय करना निश्चित किया। दक्षिण में आपको बहुत प्रकार के वादी मिले तथा उन सभी से आपको एक न एक नई बात भी मिली। विद्यानगर से लेकर दक्षिण यात्रा पर्यन्त आंपको जो वादी मिले उनमें रामानुज, योगी, कापालिक, शैव, रामानंदी, वीर, वैष्णव, मायावादी, माहेश्वर, वैरागी ये मुख्य थे। इन सभी के मत बड़े विचित्र और कोई २ तो अपनी प्रकृति में भी बड़े विचित्र और दुष्ट थे। वाद में विजय न देख वे शरीरिक विजय प्राप्त करने को उत्सुक हो उठते। कितनों ही ने तो श्री महाप्रभुजी को शारीरिक हानि भी पहुंचाने की सोची थी। किन्तु आपके अलौकिक सामर्थ्य और बल से सब हार गये। आपने समस्त दक्षिण देश में विजय प्राप्तकर उसमें अपना ब्रह्मवाद स्थापित किया।

दक्षिण छोड़ श्रीमदाचार्यचरण पंढरपुर होते हुए श्रीगोकुल पधारे। मार्ग में आपने घट सरस्वती को परास्त किया। घट सरस्वती के विषय में यह ख्याति थी कि उसने सरस्वती को वश में कर रक्खा है। किन्तु वह श्रीमहा़प्रभुजी से परास्त होकर पलायन कर गया।

श्रीगोकुल को उपयुक्त स्थल मान आपने वहां रहने का निश्चय किया और वहां ही आपने शुद्धपुष्टि भक्ति अर्थात् निर्गुण पुष्टिमार्ग की स्थापना की! आपसे दीक्षा लेने का सबसे पहला सौभाग्य दामोदर दास और प्रभुदास जलोटा को प्राप्त हुआ था।

किन्तु विश्राम लेने का अवसर ही कहां था? आपको तो अभी बहुत सा कार्य करना था। पुष्टिमार्ग को भारतवर्ष में सर्वत्र सम्मान्य कराना कोई साधारण बात नहीं थी। अतः आप फिर भारतवर्ष में पर्यटन करने चल दिये। समस्त भारत वर्ष में, कन्याकुमारी से लेकर हिमालय और अटक से लेकर कटक तक आपने तीन बार पैदल चलकर ब्रह्मवाद का उपदेश दिया। इस अपने परिश्रम पूर्ण पर्यटन में आपने स्थान स्थान पर विद्वानों की सभा बुलाई तथा उसमें अपने ब्रह्मवाद का मण्डन तथा प्रत्येक स्थान पर प्रभु प्रसादार्थ श्रीमद्भागवत का पारायण किया था। तथा जनता को स्वतंत्र उपदेश दे ब्रह्मवाद पर मुग्ध कर अपने अनुयायी बनाये थे। इस कार्य में आपने अपने अनेक वर्ष व्यतीत किये। इतना परिश्रम किया था तब कहीं आपको सफलता मिली थी। कार्यकर्ताओं को आपके इस अपूर्व परिश्रम से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। जो लोग चाहते हैं कि उन्हें श्रीमहाप्रभुजी के चरित्र से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

जब आप अपने कार्य से निश्चिन्त हो गये अर्थात् जब सर्वत्र अपने ब्रह्मवाद को फैला दिया तब आप गृहस्थ हुए। विवाह पीछे भी जिस कार्य को संपादन करने के लिये अवतार धारण किया था उसे तो करते ही रहे। विवाह के अनन्तर ही आपने अपने मार्ग के प्रदर्शक बहुत से बडे ग्रन्थों का निर्माण किया था। कभी २ वे उपदेश देने के हेतु भी बाहर चले जाते और लोगों को अपने अमृततुल्य उपदेशों से कृतार्थ करते। आपने अपने जीवन का बहुत सा समय गया, और बनारसके समीप आये हुए चरणाद्रि और अडेल नामक सुन्दर ग्रामों में व्यतीत किया था। आपका रहन सहन ही सादा और अनुकरणीय था। आप समस्त दिन भगवान की परिचर्या मे व्यतीत करते थे। उससे जो कुछ भी समय बचता था उसे आप शास्त्रावलोकन में व्यतीत करते। भगवान में आपकी पूर्ण भक्ति और निष्ठा थी। आपको अहंकार तो मानो छू तक नहीं गया था। आप सर्वत्र समानभाव रखने वाले थे और लोगों पर असीम दया की वृष्टि करने वाले थे। जहां जहां आप बोध देते लोग आपके वचनों पर मुग्ध हो उसी क्षण आपके अनुयायी हो जाते थे। जिस प्रकार मेस्ममेरिजम या जादू से लोग वश हो जाते हैं उसी प्रकार आपकी वाणी सुन लोग मोहित हो जाते। आप आचरणशील गुरु और आचार्य थे।

भक्तियुक्त अत्यन्त ही सरल जीवन व्यतीत कर, और असीम कीर्ति का उपयोग कर के एवं अपने पीछे अपनी चिर और सत् कीर्ति को छोड़कर श्रीमदाचार्यचरण ने बावन वर्ष की अवस्था में इस भूतल को छोड़ा। धर्म के विषय में जो २ कुछ परमतत्त्व था, तत्त्वविद्या के विषय में जो भी कुछ उत्तममोत्तम विद्या थी और भक्तिशास्त्र के विषय में जो भी कुछ मूल्यवान वस्तु थी उस सब का बोध दे महाप्रभु अन्तर्हित हो गये। नन्दन कानन का पारिजात पुष्प मानों टूटकर गिर गया। समृद्धिवान जौहरी की दुकान पर से उसका सबसे प्रियरत्न मानों कोई ले गया। अथवा मानों विशाल और मधुर बाग में से कोयल अपना मोहक स्वर छोड़ उसे सूना कर उड़ गई।

श्रीमहाप्रभुजी के समय देश का वातावरण

श्रीमहाप्रभु ने जिस समय भूतल छोडा उसका वर्णन देखिये एक पाश्चात्य विद्वान भी क्या करते हैं। डाक्टर विल्सन लिखते हैं– ''अपने अवतार के हेतु को पार लगा कर श्रीमदाचार्यजी ने काशीजी में हनुमान घाटपर श्रीगंगाजी में प्रवेश किया। पानी में उतरते २ आप इतने उतर गये कि अन्त में जल ने आपको अदृष्य कर दिया। जल के जिस भाग में आपने प्रवेश किया था उस भाग के ऊपर एक चकचकित ज्वाला स्तंभ दृष्टिगोचर हुआ और हजारों मनुष्यों के आश्चर्य के बीच श्रीमदाचार्यचरण ने उस ज्वालास्तंभ द्वारा वैकुण्ठ के तरफ प्रयाण किया और आकाश में जाते २ अदृश्य हो गये।''

देश का सौभाग्य सूर्य उस समय अस्त हो रहा था और हिन्दू जनता की धार्मिक नौका भी जीर्ण शीर्ण हो डूब रही थी। राज्य में क्या, समाज में क्या, धर्म में क्या और रीति नीति में क्या, उस समय सब में ही एक प्रकार का भयंकर विप्लव मच रहा था। सब लोग ऐहिक सुख साधन, और अपने २ सुख में मस्त हो रहे थे। कोई किसी की न तो सुनता था और न कोई किसी को कुछ कहने ही का साहस करता था। समस्त देश पशुबल से आक्रान्त था और जरा २ सी बात पर तलवारे चल जाती थी उस समय हिन्दू समाज की दशा अत्यन्त शोचनीय हो उठी थी। मुसलमान लोग एक हाथ में तलवार और दूसरी में कुरान लिये घूमा करते थे। तथा विविध विधियों से हिन्दू को मुसलमान बनाते फिरते थे। हिन्दू समाज उस समय नेता से हीन हो गया था। न तो उसे कोई धार्मिक

नेता ही मिलता था और न सामाजिक या नैतिक ही। उस समय बड़ी बुरी तरह से एक एक ऐसे अच्छे धार्मिक नेता की आवश्यकता थी जो इस अभागी हिन्दू जाति की डूबती हुई धर्म रूपी नौका को पार लगा दे। हिन्दूओं की दशा उस आसन्न मृत्यु रोगी की जैसी हो गई थी जो पीयूषपाणि वैद्यराज को देखने के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा हो।

चारों तरफ अशान्ति का साम्राज्य फैला हुआ था। किन्तु इस अशान्ति में ही लोगों में एकाएक शान्ति का आविर्भाव हुआ देखा। लोगों ने देखा कि एक अनतिदीर्घकाय अत्यन्त तेजस्वी महापुरुष उनके दुःख का प्रतीकार करने आ रहा है। दूसरे देखने पर वह एक साधारण मनुष्य दिखलाई देता था किन्तु उसमें अपने तेज के बल से अमित शक्ति थी और यही थे श्रीमद्वल्लभाचार्य। आपके शुद्धाद्वैतवाद ने अपने विश्वबंधुत्व के सन्देश के साथ एकता की प्रणाली के आधार पर हिन्दू जाति के विखरे हुए अंगो को संघशक्ति में अनुस्यूत कर देने का वह उच्च और परमपुनीत आदर्श प्रकट किया जिस से हिन्दू जाति में संजीवनी शक्ति आ पहुंची। किसी नई वस्तु का निर्माण करना।

यदि कार्य कुशलता है तो बिगड़ी हुई चीज को फिर से नई बनाकर काम में आने लायक बना देना उससे कहीं बढ़कर कार्य कुशलता है। भगवान् शंकराचार्य ने जब समस्त जगद्व्यापी बौद्ध धर्म का उन्मूलन कर बीज रूप से स्थित सनातन धर्म का पुनरुज्जीवन किया था तो भगवान् श्रीवल्लभाचार्य ने भी मृतप्राय हिन्दूजाति को धर्म का अपूर्व संदेशा सुना संजीवनी बूंटी दे जीवित कर दिया था इस में आश्चर्य की बात नहीं है। नूतन बालक की उत्पत्ति कर देना यदि सरल नहीं है तो मृत प्रायः मनुष्यों के विकारों को दूर कर उसे नीरोग बना देना भी कोई सरल बात नहीं है। श्रीमहाप्रभुजी ने भी अपना अवतार धारण कर इस जाति को नीरोग किया था। नहीं तो ऐसे विकट समय में न जाने यह जाति कहां जाती इसकी किसे खबर थी? वह समय कितना भीषण था उसका एक चित्र स्वयं महाप्रभुजी ने भी अपने कृष्णाश्रय में खींचा है आपने स्वयं जो कुछ लिखा है उससे हमें उस समय की परिस्थिति का अच्छा ज्ञान हो जाता है आप लिखते हैं "इस कलियुग में ईश्वर की प्राप्ति करने के सर्व मार्ग नष्ट हो चुके हैं लोगों

ने पाप और पाखण्ड का आश्रय ले रक्खा हैं ऐसे विकट समय में जीव की रक्षा भगवान् श्रीकृष्ण के सिवाय और कौन कर सकता है? देश में सर्वत्र मुसलमानों का अत्याचार हो रहा है तथा पाप की प्रवृत्ति धीरे २ बढती ही जाती थी। ऐसे समय में सज्जनों के लिये बडा दुःख होता है किन्तु प्रतीकार भी कुछ नहीं सूझता इसीलिये उनको भी भगवान् श्रीकृष्ण का ही भरोसा करना पड़ता है। गंगादिक जितने तीर्थ हैं वे सब मुलसमानों द्वारा भ्रष्ट कर दिये गये हैं। पवित्र तीर्थों का नाम भी बदल दिया गया है, काशी अब बनारस हो गया है और प्रयाग अब अल्लाहाबाद बन गया है। इस लिये तीर्थों के देवता भी मुसलमानों के अत्याचार को देख कर अपने २ धामको चले गये हैं। ऐसे समय में हमारी रक्षा तो भगवान् श्रीकृष्ण ही करें तो करें नहीं तो हमारा रक्षक कोई नहीं है। इतनी ही दुर्दशा क्यों अब तो अच्छे आदमी भी खूब अभिमानी होते चले गये हैं और उन्हें भी म्लेच्छों की आज्ञानुसार ही रहना पड़ता है तथा वे भी अपने को एक अलग दल का समझ लोगों पर विविध भांति का अत्याचार करते हैं ऐसे समय हमारे रक्षा करने वाले श्रीकृष्ण के सिवाय और कोई भी रक्षा नहीं कर सकता। घोर कलियुग का पदार्पण हो रहा है सब प्रकार के पुण्य लोगों के मन से अपनी जगह खाली करते जा रहे हैं। जप, तप, व्रत, होम और स्वाध्याय सब नष्ट हो गये हैं और पाखण्ड़ अपना साम्राज्य बढा रहा है ऐसी परिस्थिति में मेरी गति़ तो भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं''।

देखिये, उस समय की देशकाल की स्थिति का कितना मार्मिक और यथार्थ चित्र है और कितने वेदना पूर्ण और दीन शब्द हैं ! इस चित्र को हमने आपके सन्मुख इस लिये रक्खा है जिससे कि आप उस समय का अनुमान कर सकें जब कि इस देश में महाप्रभुजी ने अपना ब्रह्मवाद स्थापित किया था। उस समय, उस मझधार में डूबती हुई जनता का भगवद्वदनकमलावतार के सिवाय कौन आश्रय हो सकता था! अतएव आपने भूतल पर पधारने का कष्ट उठाया और जनता को भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेम भक्ति का मार्ग बताया।

आचार्य-प्रादुर्भाव

१

ऐसा था अवतार भूमि पर—

मरणासन्न तृषार्त मनुज को पथ पूरित सर प्राप्त हुआ।
दारुण पीडा पीडित जनको धन्वन्तरि सम प्राप्त हुआ ।।
उत्कट योगाभ्यासी नर को इच्छित वर सम प्राप्त हुआ ।
उत्कट विरही गोपीजन को माधव साक्षात्कार हुआ ।।

२

दुःखराशि के मेघ हटा कर सुखसूरज सम उदित हुआ ।
चिर उत्कंठित चातक मन को अपना प्रणयी विदित हुआ।।
राहु ग्रसित उस पूर्ण चन्द्र का मानों अभ्युत्थान हुआ।
भक्तजनों का प्रेम उदधि अब मिलने को यों उमड पडा।।

३

अति भीषण स्वप्नों से व्याकुल मन था जग का डरा हुआ।
अति मनमोहक कृष्ण चित्र को देखा तब वह शान्त हुआ।।
अतिकष्टों से जर्जर तनु में नव रस का संचार हुआ ।
अति दरिद्र भूखे इस तनु को उत्तम भोजन प्राप्त हुआ।।

४

कृपणो ने कार्पण्य दोष को सत्वर मन से भुला दिया।
अलसो ने आलस्य दोष को अपने तनु से बिदा किया ।।
वीर वरो ने अपनी असि को क्षण भर को विश्राम दिया ।
ध्यान मग्न 'व्रजनाथ' सबो ने क्षण को ध्यान बिसरडाला ।।

श्रीमद्वल्लभाचार्य के ग्रन्थरत्न

जिस समय आपश्री के ग्रन्थों का अवलोकन किया जाता है उस समय आपकी जीवों पर की गई कृपा का बोध होता। आपश्री ने अगाध परिश्रम उठा कर जीवों के उद्धार के लिये अमूल्य ग्रन्थरत्नों का प्रणयन किया है। जो लोग आपके चरित्रों के समय जीवित थे उस समय आपश्री ने उनका अपने स्वरूप बल से उद्धार किया और इसी के लिये आपने तीन समय पृथिवी की प्रदक्षिणा की थी। किन्तु जिनने आपके चरित्रों का आस्वादन नहीं किया उनके लिये आपश्री, अपना ही दूसरा स्वरूप, अपने ग्रन्थों को यहां पर पधरा गये। भगवान् श्रीकृष्ण जिस प्रकार अन्तर्हित हो कर श्रीभागवत में विराजते हैं उसी प्रकार श्रीमहाप्रभु भी अपने रचित ग्रन्थों में साक्षात् बिराजमान हैं।

आचार्यश्री विरचित ग्रन्थों के दो प्रकार से विभाग हम करते हैं। एक विभाग में आपके स्वतन्त्र प्रणीत ग्रन्थों को रखते हैं और दूसरे में प्राचीन ग्रन्थों पर आपने किये विवरणात्मक ग्रन्थों को रखते हैं।

स्वतन्त्र ग्रन्थों में–षोडश ग्रन्थ, निबन्ध और पत्रावलंबन मुख्य हैं। जिस समय आचार्यश्री ने अडेल में निवास करना प्रारंभ किया उस समय मायावादी पंडित गण तथा मीमांसक विद्वान् बहुत सी संख्या में उनसे शास्त्रार्थ करने आने लगे। इससे आपश्री को भगवत्सेवा में बड़ा विघ्न उपस्थित होने लगा। भगवत्सेवा में यह प्रतिबंध दूर हो इस इच्छा से आप श्री ने इस पत्रावलंबन (ब्रह्मवाद का यथार्थ प्रतिपादन करने वाला ग्रंथ) श्री काशी विश्वेश्वर के द्वार पर लगा दिया तथा काशी के धुरंधर पंडितों को तद्विरुद्ध शास्त्रार्थ करने को कहा। किन्तु ऐसे ग्रन्थ का खण्डन कौन कर सकता था। निदान पण्डितों ने अपनी पराजय स्वीकार की।

द्वितीय स्वतन्त्र ग्रन्थ तत्वार्थ दीप निबन्ध है। यह ग्रन्थ कारिका रूप है। सुनने में आता है कि दिग्विजय में सरलता हो जाय इस लिये सिद्धान्तों के सन्देह रूप इन कारिकाओं का आप श्री के शिष्य गण मुख पाठ करते। इन कारिकाओं में से प्रायः सब ही आचार्य श्री की निर्मित की हुई हैं तब कितनी ही नारद पंचरात्र, श्रीमद्भागवत, महाभारत और रामायणादि में से भी उद्धृत की गई हैं। सर्व

मान्य ब्रह्मवाद के आधार पर भक्ति मार्ग का इस में प्रतिपादन है। इस ग्रन्थ के तीन विभाग हैं। शास्त्रार्थ, सर्व निर्णय और भागवतार्थ। प्रथम में गीताशास्त्र का संदेश है। द्वितीय में सर्व तत्वों का निर्णय है और तृतीय में श्रीमद्भागवत के चार अर्थों का समावेश है। श्रीमद्भागवत के शास्त्रार्थ, स्कंधार्थ, प्रकरणार्थ और अध्यायार्थ का प्रतिपादन निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण में आचार्यश्री ने किया है। श्रीमद्भागवत की टीका लिख लेने के अनन्तर निबन्ध का यह तृतीय भागवतार्थ प्रकरण आपश्री ने लिखा है।

आपका तीसरा स्वतन्त्र ग्रन्थ षोडश ग्रन्थ ग्रन्थसमुच्चयात्मक है। इस षोडशग्रन्थ में छोटे २ सोलह ग्रन्थों का समावेश होता है इस लिये इस का नाम षोडशग्रन्थ है। सोलह ग्रन्थों के नाम ये है श्रीयमुनाष्टक, बालबोध, सिद्धान्तमुक्तावली, पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, सिद्धान्तरहस्य, नवरत्न, अन्तःकरणप्रबोध, विवेक धैर्याश्रय, पंचपद्य, संन्यासनिर्णय, कृष्णाश्रय, चतुःश्लोकी, भक्तिवर्धिनी, जलभेद, निरोधलक्षण और सेवाफल।

इन सोलह लघु ग्रन्थों में आपश्री ने अपूर्व कुशलता पूर्वक अपने समग्र सिद्धान्तों का संग्रह कर दिया है।

यमुनाष्टक– श्रीयमुनाजी हमारे सम्प्रदाय में विशेष पूजनीय मानी जाती हैं। इस ग्रन्थ में आचार्यश्री ने श्रीयमुनाजी के स्वरूप और माहात्म्य का वर्णन किया है। श्रीयमुनाजी व्रजजन के चतुर्थ यूथ की स्वामिनी हैं। प्रभु का जो स्वरूप है और प्रभु में जो गुण हैं वे ही श्रीयमुनाजी में भी हैं। श्रीयमुनाजी प्रभु की परम प्रेयसी प्रिया हैं। इस यमुनाष्टक का पाठ करने से देह की शुद्धि होकर सेवा का अधिकार प्राप्त होता है। इसके अविरत पाठ क़रते रहने से नवीन दिव्य देह की प्राप्ति होती है तथा प्रभु में स्नेह की बुद्धि होती है।

बालबोध– इस ग्रन्थ में पुरुषार्थ का वर्णन किया गया है। इस जगत् में अपनी २ बुद्धि के अनुसार सभी मनुष्यो ने अलग २ पुरुषार्थ मान रक्खे हैं। कोई रुपये पैसे को पुरुषार्थ समझता है तो कोई कीर्ति को ही पुरुषार्थ समझे बैठे हैं। श्रीमद्वल्लभाचार्य को चारों पुरुषार्थ– धर्म अर्थ, काम और मोक्ष, मान्य हैं। इन चारों मे से काम और मोक्ष दो पुरुषार्थों को आपने मुख्य माना है। अप्राकृतिक सुख का ही नाम काम है और दुःख के अभाव को मोक्ष कहते हैं। सुख का साधन

अलौकिक कर्म है, धर्म है। इस धर्म का साधन अलौकिक कर्म है, धर्म है। इस धर्म का साधन अर्थ माना गया है। इस लिये धर्म और अर्थ ये दोनो भी पुरुषार्थ हैं। पुरुष समय २ पर इन चारों की इच्छा करता है इस लिये ये चारों पुरुषार्थ गिने जाने उचित हैं। जगत् में ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीन फलप्रद देवता गिने गये हैं। ब्रह्मा सृष्टिकार्य में लगे रहने से विष्णु और महेश दोनों पुरुषार्थ देने वाले ईश्वर हैं। विष्णु मोक्ष देते हैं, शिवजी भोग और ऐश्वर्य का दान करते हैं।

मोक्षशास्त्र भी चार प्रकार के हैं। दो शास्त्र–सांख्य और योग, अपने किये साधनों से ही मोक्ष दे सकते हैं और दूसरे दो शास्त्र, वैष्णव शैव एक दूसरे के आश्रय ग्रहण करने से पुरुषार्थ देते हैं।

ये सब रहते हुए भी भगवदीय वैष्णवों के तो परब्रह्म श्रीकृष्ण ही सेव्य और आश्रय लेने लायक हैं।

सिद्धान्तमुक्तावली– इस ग्रन्थ में नवधा भक्ति करना जीव का मुख्य कर्तव्य है यह बतलाया गया है। यह नवधा भक्ति पुष्टि मार्गीय तनुजा भक्ति में आ जाती है। तनुजा सेवा वित्तजा सहित करनी ऐसा सिद्धान्त है। अपनी शक्ति के अनुसार प्रभु की सेवा में द्रव्य का विनियोग करना यह वित्तजा सेवा है।

अपने शरीर से भक्त को, मार्जन से लेकर शयन पर्यन्त प्रभु की परिचर्या करना तनुजा सेवा है। श्रद्धापूर्वक सब पदार्थों में तथा प्रभु के संबंध की भावना करके जो वैष्णव नित्य तनुजा और वित्तजा सेवा किया करता है उस को प्रभु में प्रेम उत्पन्न हो कर चित्त की तन्मयता होती है यह सेवा मुख्य और फलात्मिका है।

वैष्णव को उचित है कि वह सब जगत् को और अपनी आत्मा को अक्षर ब्रह्मात्मक प्रभु का लीलास्थल मानता हुआ प्रभु प्रेम के लिये तनुजा और वित्तजा सेवा करता रहे। ऐसे वैष्णव को कुछ काल ही में यहां अहंता ममता नाश, तथा पदार्थ अक्षरधाम हैं ऐसा ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

जिसको प्रभु की सेवा करते समय लौकिकासक्ति द्वारा विघ्न हो उसे उचित है कि वह क्लेश भोग कर भी प्रभु सेवा का त्याग न करे। फल विलम्ब की निवृत्ति के लिये तथा प्रतिबन्ध निवृत्ति के लिये श्रीमद्भागवत का पठन श्रवण करता हुआ भगवत्सेवा करता रहे। निरन्तर संतोष रक्खे।

पुष्टिप्रवाह मर्यादा भेद– इस ग्रन्थ में इन तीनों मार्गों का वर्णन किया गया है। प्रभु के अनुग्रहात्मक मार्ग को पुष्टि मार्ग कहते हैं। वेद मार्ग की मर्यादा में चलने वाले को मर्यादामार्गीय कहते हैं तथा दुनिया के देखा–देखी चलने वाले को प्रवाहमार्गीय जीव कहते हैं इसका वर्णन हमने अन्यत्र किया है।

सिद्धान्तरहस्य– श्रीमद्वल्लभाचार्य का यह ग्रन्थ अपूर्व है। यद्यपि इस ग्रन्थ में कही हुई सब बातें भक्तिशास्त्र के सब आचार्यों को मान्य हैं तथापि किसी अन्य आचार्य ने इन बातों को प्रथक् एक ग्रन्थ में कहीं भी नहीं कहा है। शास्त्रों मे यह बात छिपी हुई है इसी लिये इसे 'रहस्य' नाम दिया गया है। वैष्णवों के लिये इस बात के जानने की परम आवश्यकता है। अनधिकारियों के हृदय में यह बात नहीं जमती इसी लिये इसे रहस्य कहा है।

इस ग्रन्थ में पांच दोष बतलाये हैं और उनकी निवृत्ति ब्रह्म सम्बन्ध से होती है यह कहा गया है। यद्यपि इन दोषों की सर्वथा निवृत्ति क्रमिक अभ्यास से होती है तथापि जिस दिन से गुरु के द्वारा इन दोषों की निवृत्ति का उपाय प्रारम्भ किया उस प्रारम्भ का नाम ही 'ब्रह्म सम्बन्ध' है।

ब्रह्म सम्बन्ध का जो मन्त्र है उसमें यह बात समझाई गई है कि सपरिकर जीव ब्रह्म का है– प्रभु श्रीकृष्ण का है। श्रीकृष्ण जीव के उपजीव्य, स्वामी, अंशी हैं। इस लिये जीव के लिये एक मात्र श्रीकृष्ण ही सेव्य हैं– वे ही जीव के सर्वस्व हैं। जीव श्रीकृष्ण का उपजीवक दास और अंश है। इस लिये वह श्रीकृष्ण का सेवक है। जगत् में श्रीकृष्ण ने जीव को इसी लिये जन्म दिया है कि वह उनकी सेवा करता रहे।

प्रभु में और जीव में जो यह स्वामी और सेवक का सम्बन्ध है उसे जीव संसार में आकर, अहंता, ममता, दोष से भ्रमित होकर, भूल जाता है। इस ब्रह्म के और जीव के संबंध को आचार्य के द्वारा स्मरण कराने वाले मन्त्र को ब्रह्म सम्बन्ध मन्त्र कहते हैं।

प्रतिदिन और प्रतिपल इस सम्बन्ध का प्रत्येक वैष्णव को स्मरण करते रहना चाहिये। ये स्मरण जब दृढ हो जाता है तब पांच दोष सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। पांच दोष ये हैं–सहज, देशकालोत्थ, लोकवेदनिरूपित, संयोगज और स्पर्शज।

नवरत्न– इस ग्रन्थ में नो श्लोक रत्न की तरह हैं इस लिये इस ग्रन्थ का नाम 'नवरत्न' यथार्थ रक्खा गया है।

जीव को स्वभाव वश अनेक समय में अनेक चिन्ता लगी रहती हैं। किन्तु इस ग्रन्थ में यह बतलाया गया है कि जीव को किसी भी प्रकार की चिन्ता करनी उचित नहीं है। क्योंकि जिन ने ब्रह्म सम्बन्ध ले लिया है उनके मालिक श्रीकृष्ण जीव पर सर्वदा अनुग्रह ही करेंगे। कभी उस का अहित होने नहीं देंगे।

इस ग्रन्थ में कहा गया है कि यदि योग क्षेम के विषय में चिन्ता होती तो वह भी व्यर्थ है क्योंकि जीवने सपरिकर अपने आप को प्रभु के निवेदन कर दिया है। प्रभु सर्व जगत् के मालिक हैं सबके अन्तर्यामी हैं अपनी इच्छा से सब करेंगे। जीव के चिन्ता करने से कुछ नहीं होगा। ईश्वर सब अपने हित को ही करेंगे।

इस ग्रन्थ में सर्वथा चिन्ताओं का परित्याग करने को कहा गया है।

अन्तःकरण प्रबोध– इस ग्रन्थ में अपने अन्तःकरण को समझाने की बातों का समावेश है। किसी समय असावधानता से यदि प्रभु का अपराध जीव के द्वारा हो जाय तो अतिशय दीनता पूर्वक क्षमा याचना प्रभु के सन्मुख करनी चाहिये। इसी बात का इस ग्रन्थ में सन्निवेश है।

विवेक धैर्याश्रय– इस ग्रन्थ में विवेक धैर्य और आश्रय क्या हैं इनका निरूपण किया है।

विवेक के द्वारा कामनावश के समय दृढता बनी रहती है और धैर्य के द्वारा दुःख के समय दृढ़ता बनी रहती है। इन दोनों प्रकार की दृढता से प्रभु का आश्रय सिद्ध होता है।

विवेक– मनुष्य कामनामय है। कोई प्रकार की भी कामना हृदय में उत्पन्न हो और यदि वह पूर्ण न हो तो मनुष्य को दुःख होता है और इससे प्रभु की सेवामें व्याघात पहुँचता है। ऐसे समय में मनुष्य को उचित है कि वह विवेक के द्वारा काम ले। 'प्रभु सर्व समर्थ हैं, कोई बात की प्रभु के यहां कमी नहीं है। फिर भी प्रभु मेरी इच्छा जो पूर्ण नहीं करते हैं उसमें अवश्य कुछ कारण है। प्रभु मेरा हित ही करते हैं। मेंरी इच्छा पूर्ति न करने में भी प्रभु ने मेरा हित ही सोचा होगा। जब प्रभु की इच्छा होगी तब वे आप मेरी इच्छा पूर्ण करेगें।' ऐसी भावना करने को ही विवेक कहते हैं। इससे प्रभु सेवा में दृढ़ता बनी रहती है। अभिमान को अपने हृदय में कभी स्थान नहीं देना चाहिये। दुराग्रह वैष्णव मात्र को कभी नहीं करना चाहिये। तीनों प्रकार के दुःखों को दृढता पूर्वक सहन करना चाहिये। प्रभु क

ऊपर कभी अविश्वास लाना नहीं चाहिये। प्रभु से कभी किसी भी वस्तु के लिये प्रार्थना नहीं करनी चाहिये। अन्याश्रय कभी नहीं करना चाहिए।

इन उपर्युक्त बातों का समावेश इस 'विवेकधैर्याश्रय' ग्रन्थ में है।

कृष्णाश्रय– इस ग्रन्थ में जीव का एक श्रीकृष्ण ही रक्षक हैं इस बात का निरूपण कर जीव मात्र को श्रीकृष्ण के ही शरण जाना चाहिये इस बात का उपदेश दिया है। लोक, देश, काल, तीर्थ, मन्त्र, सत्पुरुष सब कलियुग के दोष से दुष्ट हो गये हैं। इस लिये प्रभु ही सर्वथा रक्षक और सेव्य हैं। इन बातों का इसमें निरूपण किया गया है।

चतुःश्लोकी– इस ग्रन्थ में चार श्लोकों के द्वारा पुष्टिमार्गीय चार पुरुषार्थो का वर्णन है।

भक्तिमार्ग में प्रभु सेवा ही 'धर्म' है। श्रीकृष्ण ही वैष्णवों के लिये 'अर्थ' हैं। प्रभु के मुखारविन्द का दर्शन ही वैष्णवों के लिये 'काम' है और प्रभु के वास्तविक दासों में स्वीकार हो यही पुष्टिमार्गीय 'मोक्ष' है। इन्हीं बातों का संक्षेप में श्लोक चतुष्टय में आपश्री ने निरूपण किया है।

भक्तिवर्धिनी– इस ग्रन्थ में प्रभु पर भक्ति बढे उसका उपाय बतलाया है।

प्रभु की नवधा भक्ति अवश्य करता रहे। इस से प्रभु में प्रेम उत्पन्न होगा। प्रभु में जब आसक्ति होती है तो जगद्वर्ती यावत्पदार्थ सारहीन लगते हैं और उन पर से आसक्ति हट जाती है। प्रभु में जब अत्यन्त आसक्ति हो जाती है उसे व्यसन कहते हैं। यह व्यसन जब सिद्ध होजाय तब जीव कृतार्थ हो जाता है। प्रभु प्रेम की जब इतनी उच्च कोटि को जीव पहुंच जाय तब घर को छोड दे। जहां भगवदीय महात्मा गण निवास करते हों वहां जाकर रहे।

जलभेद– बहुत से लोग भगवान् का गुणगान किया करते हैं। किन्तु वर्णन कर्ता और गुणगान कर्ता के अन्तःकरणों के भेद भगवद्गुणों में भी भेद हो जाता है इस लिये भिन्न २ मनुष्यों को भिन्न २ प्रकार के फल प्राप्त होते हैं। इसी बात का वर्णन इस ग्रन्थ में है।

पंचपद्य– इस ग्रन्थ में भगवत्कथा के श्रोताओं का वर्णन है। प्रभुके गुणगान सुनने वाले अनेक हैं। उन में से उत्तम श्रोता वे हैं जो प्रभु में दृढ आसक्ति रखते हैं। जिनको लौकिक या वैदिक फल की आकांक्षा नहीं है वे उत्तम श्रोता हैं।

सन्यास निर्णय– इस ग्रन्थ में सन्यास का निर्णय किया है। अच्छी तरह अर्थात् एक दम सबको छोड़ देना ही 'सन्यास' शब्द का अर्थ है। यह असम्भव है। जब तक देह बना रहे तब तक यह होना कठिन है।

भक्ति सिद्ध हो इस लिये सन्यास लेने की मना है। क्योंकि नवधा भक्ति के बिना गृह का आश्रय लिये नहीं बन सकती।

गृहस्थित मनुष्य सेवा आदि में बाधक होते हैं यह सोचकर भी सन्यास लेना ठीक नही क्योंकि गृह छोड़ने के अनन्तर भी कलिदूषित मनुष्यों से काम पड़ता ही रहेगा।

काल का प्रभाव ऐसा दुस्तर है कि वह बलपूर्वक मन को विषयों में खींच ले जाता है। इसलिये साधन रूप से अथवा साधन सिद्धि के लिये हमारे मार्ग में सन्यास लेना निषिद्ध है।

फलात्मक सन्यास लेने का भक्तिमार्ग में विधान है। भक्ति मार्ग में प्रभु का स्नेह परिपूर्ण प्राप्त होना फल है। वह स्नेह दो प्रकार का है। संयोग और विरह। प्रभु पर स्नेह होने के अनन्तर विरह का अनुभव लेने के लिये यदि सन्यास लिया जाय तो वह ठीक हैं ऐसे सन्यास लेने में वेश परिर्वतन की कोई आवश्यकता नहीं है। दण्डकमण्डलु भी उतने आवश्यक नहीं है तथापि आत्मीयों की चित्तवृत्ति को फेरने के लिये यदि ले लिये जाये तो हानि नहीं है।

सेवाफल– इस ग्रन्थ में सेवा के फल का निरूपण है सेवा के उत्तम फल स्वरूप प्रभु के साथ आनन्दमय काम अशनादि प्राप्त होते हैं। मध्यम फल स्वरूप सायुज्य प्राप्ति होती है कनिष्ठ फलस्वरूप प्रभु की सेवा का अधिकार फल प्राप्त होता हैं सेवोपयोगी अक्षरात्मक देह को अधिकार कहते हैं।

लौकिक या वैदिक बाधा बार २ सेवा में विध्न डालती हो तो समझलेना चाहिये कि प्रभु की हमें फल देने की इच्छा नहीं है। ऐसी अवस्था में श्रीमद्भागवतादि का आश्रय लेकर ज्ञानमार्ग में ही स्थित रहना उचित है। प्रभु जिस प्रकार रक्खें सेवक को उसी प्रकार रहना यही सेवक का धर्म है। लौकिक बातों में यदि, लौकिक पदार्थों के उपयोग में जर्बदस्ती मन जाता हो तो, अथवा सेवा में सदा बलवान विघ्न आते रहते हों तो यह समझ लेना होगा कि 'प्रभु की इच्छा मुझे संसार में ही रखने की है'।

निरोधलक्षण– इस ग्रन्थ के तात्पर्य को हमने अन्यत्र समझाया है।

पुरुषोत्तम सहस्त्रनाम– इसमें २५६ श्लोक हैं। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के इसमें १००० नाम हैं और श्रीमद्भागवत का अतिसंक्षेप में तात्पर्य है।

त्रिविधनामावली– इसमें १०८ श्लोक हैं और इसमें भगवान् की बाललीला और प्रौढ़लीला और राजलीलाओं का वर्णन हैं।

मधुराष्टक– इस में भगवान् के समस्त श्री अंग मधुर और आनन्दमय हैं इस का वर्णन किया गया है।

अब श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित विवरणात्मक ग्रन्थों का वर्णन करते हैं–

अणुभाष्य– इस ग्रन्थ में व्यास सूत्रों पर भाष्य किया गया है। इस ग्रन्थ को आप पूर्ण नहीं कर सके थे। इस की पूर्ति आपके पुत्र श्रीमद्विट्ठलनाथजी ने की है।

श्रीसुबोधिनीजी– यह श्रीमद्भागवत पर टीका है। आज कल प्रथम स्कंध, द्वितीय स्कन्ध, तृतीय स्कन्ध, दशम स्कन्ध और एकादश स्कन्ध के कुछ अध्याय पर्यन्त सुबोधिनीजी प्राप्त हैं।

श्रीमद्भागवत की सूक्ष्म टीका– इस में भी आप श्री ने श्रीमद्भागवत का अर्थ समझाया है। इन के अतिरिक्त निम्न लिखित ग्रन्थ भी हैं–

गायत्रीभाष्य

स्फुट ग्रन्थ

परिवृढाष्टक

दशमस्कन्धानुक्रमणिका

शिक्षाश्लोक

कृष्णप्रेमामृत

नन्दकुमाराष्टक

श्रीगिरिराजधार्याष्टक

श्रीगोपीजनवल्लभाष्टक

पंचश्लोकी

श्रीभागवत एकादशस्कन्ध अर्थ निरूपण कारिका न्यासादेश

गायत्रीव्याख्या

त्रिविधलीलानामावली

श्रुतिगीता

पूर्वमीमांसा कारिका

श्रीभगवत्पीठिका

परीक्षार्थ प्रश्न

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी कौन हैं ?

लोकदृष्टि में वे कैसे हैं ? वैष्णव दृष्टि में वे कौन हैं ?

श्रीमहाप्रभुजी के प्राकट्य का साल और हाल कहो।

श्रीलक्ष्मणभट्टजी कौन थे ? उनके कितने पुत्र हुए ?

श्रीमद्वल्लभाचार्य का जीवन चरित्र अपने शब्दों में कहो ।

'आचार्य' शब्द की व्युत्पत्ति क्या है ।

विजयनगर के विजय का वर्णन करो।

महाप्रभुजी के समय देश का क्या हाल था ?

श्रीमहाप्रभु में 'आचार्य' शब्द का समन्वय करो।

श्री वल्लभानुग्रह स्मरण

१

तुमारे लाखों ही उपकार !

वेद धर्म के कर्म मर्म को समुचित व्यक्त किया तुमने !
अखिल विश्व के शान्ति मार्ग का अन्तिम बोध दिया तुमने !
निश्छल अपने हृदय राज्य में सादर स्थान दिया तुमने !
अमिट सुखों का अवलंबन दे नाथ सनाथ किया तुमने !

जय जय श्रीवल्लभ,
भगवन् जय वल्लभ !

२

अनुग्रह के मालिक आप !

अवनति के उस घोर गर्त से हाथ थाम खींचा तुमने !
उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर सादर बैठाया तुमने !
अन्तःसार विहीन विषय को विष सम दूर किया तुमने !
अमृत तुल्य अपने ग्रन्थों का निस्तुल ! दान दिया तुमने !

जय जय श्रीवल्लभ,
भगवन् जय वल्लभ !

३

बनाते हो बिगडे को नाथ !

बाह्याडम्बर से मोहित हो मन्त्र मुग्ध थे बने हुए !
खोकर अपने गौरव को थे क्षुद्र भीरु हम बने हुए !
आकर तुमने दिव्य देह से वैश्वानर हम को तारा !
अमृत जलधि से सिंचित कर इस शुष्क हृदय को अपनाया !

जय जय श्रीवल्लभ,
भगवन् जय वल्लभ !

४

पुष्टिमार्ग का कुंज आपका

अमिट शान्ति का मार्ग आप का!
जिस निकुंज में थकित पथिक गण क्षण में तजता है दुख को !
जिस निकुंज के भ्रमर गणों की गीति छुड़ाती भव भयको !
उस निकुंज के जीवन धन तुम बार बार अवतार गहौ !
इस अपने चिर बिछुडे बन का एक बार तो ध्यान धरौ !

जय जय श्रीवल्लभ,
भगवन् जय वल्लभ !

पुष्टिमार्ग

जो लोग जन्म से प्रसिद्ध पुष्टिमार्गीय वैष्णव हैं, अथवा जिनके यहां परम्परा से पुष्टिमार्गीय दीक्षा चली आती हो, अथवा जो लोग पुष्टिमार्गीय आचार विचार में स्थित हैं और जिनके यहाँ पुष्टिमार्गीय सेवा पद्धति प्रचलित है अथवा जो लोग गुरु और ईश्वर में एक भाव रखते हैं, अथवा जो लोग अपने आपको अनन्य पुष्टिमार्गीय वैष्णव कहते हैं, या कहलाना चाहते, उनके लिये पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों का जानना उतना ही आवश्यक है जितना ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्म का जानना या पढ़ने वाले को विद्या का जानना। जो पुष्टिमार्गीय होकर भी अपने सिद्धान्तों के रहस्यों को नहीं जानतें वे नाम मात्र के वैष्णव हैं। ऐसे वैष्णवों से वैष्णवत्व का गौरव नहीं बढ़ सकता और न ऐसे वैष्णवों से पुष्टिमार्ग की उन्नति ही हो सकती है। इसलिये प्रत्येक पुष्टिमार्गीय वैष्णव–बालक युवा, वृद्ध और स्त्री–को अपने संप्रदाय का रहस्य जानना अत्यन्त आवश्यक है। पुष्टिमार्ग के महत्व को जान लेने पर कोई भी अन्य मत वाला दुष्टसंस्कार से दूषित मनुष्य उनकी बुद्धि को आड़े रास्ते नहीं ले जा सकता। जो लोग अपने सिद्धान्त के ज्ञान में अपरिपक्क हैं उनकी श्रद्धा सहज डिगाई जा सकती है। किन्तु जो लोग अपने सिद्धान्त की बात जानते हैं, हमारा पुष्टिमार्ग कितना श्रेष्ठ कितना निर्दुष्ट और कितना व्यापक है यह जानते है उनकी श्रद्धा संप्रदाय पर दृढ हो जाती है। ऐसी श्रद्धा से वैष्णवों की और सम्प्रदाय की बड़ी उन्नति होती है। वास्तव में ऐसे ही मनुष्यों की संप्रदाय और वैष्णवों को आवश्यकता रहती है जो अपने आप ज्ञाता और श्रद्धायुक्त होकर अपने संप्रदाय में रहते हैं।

हमारे संप्रदाय का नाम 'पुष्टिमार्ग' प्रसिद्ध है। इसी को साधारण लोग 'शुद्धाद्वैत' कहते हैं और यही जनता में 'ब्रह्मवाद' भी कहलाता है।. पुष्टिमार्ग का लोकप्रसिद्ध सरलार्थ है वल्लभ 'भक्तिमार्ग'।

'पुष्टि' शब्द पारिभाषिक होने से साधारण लोग जो इस संप्रदाय का रहस्य नहीं जानते वे मोहित या भ्रमित हो जाते हैं। किन्तु वास्तव में 'पुष्टि' का अर्थ 'पोषण' है जिस का अर्थ अनुग्रह या कृपा होता है। अर्थात् 'पुष्टि' शब्द का अर्थ भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र की कृपा है। यदि स्पष्ट और विशद शब्दों में कहा जाय तो हम कह सकते हैं कि 'जिस मार्ग में जीव ईश्वर का सम्बन्ध परोक्ष

रीति से ही केवल नहीं होता है प्रत्युत प्रेम और कृपा से प्रत्यक्ष भी जीव और ईश्वर का संबंध हो जाता है यही हमारा सम्प्रदाय है और उसी को कहते 'पुष्टिमार्ग'। जिस सम्प्रदाय में साधन और फल भगवान् श्रीकृष्ण ही हों ओर जहां भगवान् की कृपा ही सब कुछ मानी गई हो उसे ही पुष्टिमार्ग कहते है। जहां भगवान् की कृपा ही भगवान् से मिलाने का एक मात्र साधन समझी गयी हो और जहां उन सर्व सामर्थ्य सम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण की एक मात्र कृपा द्वारा ही लौकिक और वैदिक सिद्धि होती हो उसे 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं। जहां अपने सनातन धर्म और सदाचार का सन्मान पूर्वक भगवदाज्ञानवत परिपालन होता हो, जहां वेद, भागवत, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र इन प्रस्थान चतुष्टय का प्रामाण्य हो, और जिस मार्ग में भगवदासक्ति और व्यसन को परमोत्कृष्ट माना हो उसे ही 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं। जहां भगवान् को स्वीकार करने में योग्यायोग्यत्व का परिचय नहीं कराना पड़ता, जहां जीव अपने आप को अत्यन्त दीन और निःसाधन मान प्रभु की कृपा का ही इच्छुक बना रहता है उसे ही 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं। जहां भगवान् स्वयं जीव का वरण करने में उसकी योग्यता नहीं देखते प्रत्युत अपने में सम्पूर्ण समर्पण भाव देखते हैं, जहां भगवान् जीव की शक्ति पर मुग्ध न हो कर अनुरक्ति पर मोहित होते हैं वही 'पुष्टिमार्ग' है। जहां अत्यन्त उत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त हो जाने पर और शुद्ध पुष्टि भक्ति मिलजाने पर लोक और वेद के 'बंधन' मालुम होने लगते हैं और भगवान् श्रीकृष्ण के भक्तिभावातिरेक में डूब जाने पर लोक वेद नियम, भक्ति की उच्च प्रगति में बाधा नहीं पहुंचा सकते वही 'पुष्टिमार्ग' है। जहां भगवान् के भक्तों पर प्रेम है, जहां भगवान् के और उनके भक्तों के विरोधियों के लिये क्षमा है तथा उदासीनों पर जहां दया है वहीं 'पुष्टिमार्ग' है। जहां अपने आपको भगवान् का एक तुच्छ सेवक मात्र गिना जाता हो, जहां दैन्य ही प्रभु के प्रसन्न करने का एक साधन समझा गया हो उसे 'पुष्टिमार्ग कहते हैं। जहां जीव ब्रह्म का अंश समझा गया हो, जहां जगत् सत्य समझा गया हो वही पुष्टिमार्ग है। जहां, स्वप्न, मूर्ति आदि भगवद्विग्रहों में लौकिकता दीखना, गंधर्वनगर, शुक्तिरजत आदि असत्य प्रपंच समझे जाते हों, जहां सत्य प्रपंच में नश्वरता आदि भी दीखना मायिक समझा गया हो उसे 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं। जहां पंचमहाभूत और उनसे बने हुए पदार्थ, वेद, स्वर्ग, मोक्ष

आदि प्रपंच कारण रूप होने से सत्य समझे गये हे और उन्हें ब्रह्मात्मक माना गया हो उसे ही 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं। जहां जगत् के कर्ता को परब्रह्म माना हो और इसे माया और अविद्या से रहित माना हो और उसमें विरुद्ध अविरुद्ध सर्व शक्ति और धर्म का समावेश माना गया हो और अधिकारानुसार उस ब्रह्म की अनेक स्फूर्तियां जहां मानी गयीं हो वह 'पुष्टिमार्ग' है। जहां श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म परमात्मा माना गया हो, जहां उन्हें ही सर्वसामर्थ्यवान् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं ईश्वर समझा गया हो, जहां भगवान् में देह इन्द्रिय और अन्तःकरण की कल्पना मिथ्या मानी गई हो वही 'पुष्टिमार्ग' है। जहां श्रीकृष्ण का साक्षात्कार होना, उनकी सायुज्य मुक्ति मिलनी, उनकी सेवा प्राप्ति और सेवा का अधिकार यही परम पुरुषार्थ माना गया हो वही 'पुष्टिमार्ग' है। जहां मोक्ष किंवा आनन्द प्राप्ति का एक मात्र साधन भगवान् की भक्ति और उनमें एकान्त अनुरक्ति मानी गई हो उसे 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं। जहां भगवान् की भक्ति करना ही जीव का निष्काम धर्म समझा गया हो, भक्ति के प्रत्युपकार में जहां हृदय में कुछ भी अभिलाशा नहीं रखी जाती और जहां केवल भाव मात्र का ही पोषण हुआ करता है उसे 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं। कितना कहें ? यदि सूक्ष्म भेदों पर दृष्टि न दें तो यह सब पुष्टिमार्ग की प्रसिद्धि के हेतु हैं। संक्षेप में यदि सब कुछ कह दें तो कह सकते हैं जहां धर्म अर्थ काम और मोक्ष सब कुछ भगवान् श्रीकृष्ण ही माने गये हों वही 'पुष्टिमार्ग' है। सच्ची बात तो यह है कि मनुष्य को जब भगवान् के माहात्म्य की खबर पडती है तो वह उन के सुखदायक चरणों की शरण को छोड़कर कहीं नहीं जा सकता।

मकरन्द निर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते।।

इस मार्ग के प्रर्वतक भगवान् श्रीवल्लभाचार्यजी हैं।

भगवान् श्रीवल्लभाचार्य ने अपने निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण में स्पष्ट लिखा हैं 'कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः' अर्थात् भगवान् के अनुग्रह का ही नाम पुष्टिमार्ग है। भगवान् परम कृपासिन्धु हैं और अगणितानन्द हैं। वे जीव का किस प्रकार कल्याण हो यही कामना किया करते हैं। भगवान् जब कृपा करते हैं तब उनकी भक्ति मिलती है। जिन पर भगवान् की कृपा नहीं होती वे भगवान् की भक्ति से दूर ही रहा करते हैं और देवता सब गणितानन्द हैं अर्थात् उनका और

उन के द्वारा दिया गया आनन्द–सुख–गणित होता है–क्षुद्र और नाशवान् होता हैं। किन्तु भगवान् तो अगणितानन्द हैं उन का भक्त कभी क्षुद्र बातों पर मोहित नहीं होता वह तो केवल भगवान् को ही चाहता है भगवान् के अतिरिक्त उसकी अभिलाषा किसी जगह नहीं होती। 'पुष्टि' का सुन्दर अर्थ आचार्य श्रीमहाप्रभुजी ने अपने अणुभाष्य में देखिये किस प्रकार किया है। आप लिखते है– ''कृतिसाध्यं साधनं ज्ञानभक्तिरूपं शास्त्रेण बोध्यते ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिमर्यादा तद्रहितानपि स्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिरित्युच्यते।'' (३–३–२९) कहने का तात्पर्य यह हैं कि वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप इत्यादि करने से मोक्ष होता है ऐसा शास्त्रों में सुनते चले आये हैं। इस मोक्ष में वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, इत्यादि उपयोग में आते हैं अर्थात् मोक्ष के लिये यह प्रधान साधन माने गये हैं। इस लिये शास्त्र में कहे हुए इन साधनों द्वारा मुक्तिकी प्राप्ति करनी उसे 'मर्यादा' कहते हैं। शास्त्रों में जो बातें लिखी हैं और जो साधन बताये हैं केवल उन्हीं के सहारे, आदि से अन्त तक शास्त्र की मर्यादा में रहकर जो मोक्ष के लिये साधन किया जाय उसे 'मर्यादा' कहते हैं। किन्तु उपर्युक्त वेदाध्ययन प्रभृति जहां साधन नहीं गिने गये हों, अर्थात् जो उपर्युक्त साधनों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है ऐसे प्रभु के स्वरूप बल से ही जो प्रभु की प्राप्ति होती है उसे 'पुष्टि' कहते हैं। इस व्याख्या को वेद स्वयं पुष्ट कर रहा है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है –

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यै–
षात्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।।

अर्थात्–भगवान् श्रीकृष्ण शास्त्रों के अध्ययन या अध्यापन से भी प्रसन्न नहीं होते, अपने असीम बुद्धिशाली या धारणशील होने पर भी वे प्रसन्न नहीं होते, परंतु जिसे भगवान् कृपाकर अपना समझते हैं और उस पर कृपा दृष्टि का पात करते हैं उसी को परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है।

भगवान् ने श्रीगीतोपनिषद् में भी आज्ञा की है 'भक्याहमेकया ग्राह्मः।' अर्थात् मैं यदि प्रसन्न हो सकता हूं तो केवल भक्ति से ही और कोई भी उपाय से मैं प्रसन्न नहीं किया जा सकता। ठीक है, जिसके लक्ष्मी स्वयं पैर दबाती है उसे क्या हम क्षुद्र पैसों का लोभ देकर प्रसन्न कर सकते है ? अथवा जो वाणी के ईश हैं जिनमें

से सरस्वती देवी अपनी शक्ति लेकर अपना निर्वाह करती हैं उन्हें क्या हम अपनी टूटी फूटी स्तुति से प्रसन्न कर सकते है ? इसलिये जीव कुछ भी नहीं है। उसकी कृति ही क्या है ? अतएव यदि अपने तुच्छ बल पर विश्वास रख भगवान् को वश करना चाहे तो यह जीव की मूर्खता है। भगवान् तो भक्तिवश्य प्रसिद्ध हैं।

यह भक्ति ही 'पुष्टि' है क्यों कि यहां कार्य कारण का ऐक्य समझा गया है। 'पुष्टिमार्ग' के कहने से ही भक्तिमार्ग समझ लेना चाहिये। पुष्टिमार्गीय यावद् ग्रन्थों को हम यदि भगवदनुग्रहशास्त्र कहें तो यह उचित ही है। क्यों कि इन शास्त्रों में भगवदनुग्रह पर ही विशेष बल दिया गया है।

पुष्टिमार्ग कब से प्रचलित हुआ?

अब साधारण, परन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हमारा यह 'पुष्टिमार्ग' लोक में कब से प्रचलित हुआ। लोगों में साधारण भ्रम यह है कि इस पुष्टिमार्ग के आदि प्रवर्तक श्रीवल्लभाचार्यजी हैं। किन्तु यह लोगों की उसी प्रकार की भूल हे जिस प्रकार लोग भगवान् वेदव्यास जी को वेद और पुराण का कर्ता समझते हैं। क्या भगवान् वेद् व्यासजी वेद के प्रणेता हैं? नहीं, वेद और पुराण तो स्वयंभू हैं। वेद का तो केवल व्यासजी ने सम्पादन किया है। इसी प्रकार पुष्टिसम्प्रदाय तो अनादि काल से प्रचलित है। हां, आचार्य श्रीवल्लभाचार्यजी ने इसे जनसाधारण में परिचित अवश्य कराया था।

भगवदुपदिष्ट वेद, शास्त्र और पुराण से प्रतिपादित वैष्णव मत के चार सम्प्रदाय हैं। पद्मपुराण में लिखा है–

श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः।
चत्वारस्ते कलौ भाव्याः सम्प्रदायप्रवर्तकाः।।

अर्थात्– कलियुग में श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनकादि ये चार देव चार सम्प्रदायों को चलाने वाले होंगे। यहां श्री से रामानुज, ब्रह्म से मध्वाचार्य, रुद्र से विष्णुस्वामी और सनक से निम्बार्काचार्य हुए यह जान लेना चाहिये।

इन्हीं में से विष्णुस्वामी मत के संग्रहीता श्रीवल्लभाचार्य हुए और आपने ही विष्णुस्वामी मत के साथ २ प्रभु से प्राप्त 'शुद्धाद्वैत' या 'पुष्टिमार्ग' का उपदेश दिया। विष्णुस्वामी अनेक हुए हैं।

सम्प्रदाय का मर्म

जिस भक्तिमार्ग में परंपरा प्राप्त श्रीकृष्ण के मंत्रादि का उत्तम दान हो उसे 'पुष्टि' सम्प्रदाय कहते हैं। यह है पुष्टिमार्ग का मर्म। इस मर्म का अर्थ और रहस्य समझ जाने पर सब प्रकार की शंका का निरास होता है संक्षेप में सम्प्रदाय का मर्म बता दिया जाय तो वह है 'भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते रहना'। जब भगवान् ही प्रसन्न हो गये तो फिर और क्या बाकी रहा? 'किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने!' वास्तव में यदि कहा जाय तो यदि कोई भी सम्प्रदाय सार्वभौम सम्प्रदाय हो सकता है तो वह हमारा 'पुष्टिमार्ग' ही है। पुष्टिमार्ग का मर्म और पुष्टिमार्ग का रहस्य इतना तो सर्व प्रिय और जगत् व्यापी है कि वह अपने आप ही आज भी जगत् का सम्प्रदाय हो रहा है। विरक्त संन्यासी को देखो, कर्म ज्ञानी को देखो और घर में फंसे हुए एक गरीब गृहस्थ को देखो; वे किस की इच्छा रखते हैं? ये सब एक ही इच्छा रखते हैं। 'प्रभु हमारे ऊपर प्रसन्न हो' यह इन लोगों की इच्छा बनी रहती है। अर्थात् सत्य कहा जाय तो ये सब 'पुष्टिमार्ग' के ही उपासक हैं। इसी लिये यदि विश्वधर्म की योग्यता रखने वाला संसार में कोई भी संप्रदाय हो सकता है तो वह 'पुष्टिमार्ग' ही है।

विश्वधर्म पुष्टिमार्ग

इस कलियुग में जब देश, मन्त्र, काल, कर्म द्रव्य और कर्ता, सब दोष युक्त हो गये है और इनके द्वारा जब भगवान् को प्रसन्न करना नितान्त ही कठिन हो गया है हमारा पुष्टिमार्ग विश्वधर्म की जगह ग्रहणकर जीव को सत्पथ पर लाकर भगवान् की प्राप्ति करने का मार्ग बताता है। सब से अच्छा, सब से सरल और गम्भीर और सब से उत्तम यह पुष्टिमार्ग है। इस पथ पर विचरण करने वाला कभी दुःख का अनुभव नहीं करता। 'धावन्निमील्य वा नेत्रे न पतेन्नस्खलेदिह' अर्थात् आंख मीच कर भी यदि कोई इस मार्ग पर दौड़ता है, तो यह मार्ग इतना तो साफ सुथरा और निष्कण्टक है कि दौड़ने वाला इस पर न तो गिरता ही है और न फिसलता ही है। ऐसे धर्म की विश्व को आवश्यकता है और यही हमारा 'पुष्टिमार्ग' है। व्यासजी ने भागवत में लिखा है– **'एष निष्कण्टकः पन्था यत्र सम्पूज्यते हरिः'** अर्थात् जहां भगवान् श्रीकृष्ण अच्छी तरह से पूजे जाते हों वही उत्तम मार्ग है। इस सिद्धान्त का पुष्टिमार्ग में अच्छी तरह से समन्वय होता है। पुष्टिमार्ग में साधन और फल दोनों ही श्री कृष्ण और उनके अनुग्रह हैं। पुष्टिमाग

में अहंता ममता रूपी संसार से मुक्त होना, भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र के अलौकिक माहात्म्य का यथार्थ ज्ञान होना, भगवान् का साक्षात्कार होना, भगवान् में दृढ भक्ति होनी और अन्त में भगवल्लीला में प्रवेश होना यह सब श्रीकृष्ण की पूर्ण अनुकम्पा द्वारा ही साध्य माने गये हैं। इस अनुग्रह अथवा पुष्टि से होने वाली भक्ति उसे पुष्टिभक्ति कहते हैं। यह विश्वधर्म पुष्टिमार्ग वेद विहित है वेद, भागवत, गीता और ब्रह्मसूत्र में जो भी कुछ सिद्धान्त रूप से कहा है वह सब पुष्टिमार्ग पूर्णरूप से सन्मान्य है। यदि वास्तविक रूप से देखा जाय तो वेद, सूत्र, भागवत और गीता ये सब पुष्टिमार्ग का ही निरूपण करते हैं। विश्वधर्म होने के प्रमाण स्वरूप कहा जा सकता है कि इस मार्ग में भगवान् की जो भी कुछ सेवा या भक्ति की जाती है वह कोई भी प्रत्युपकार की इच्छा अपने मन में रक्खे बिना ही की जाती है। यहां प्रत्युपकार की कोई भी आशा नहीं है। केवल भगवान् प्रसन्न हों यही पूर्ण अभिलाषा बनी रहती है। इसीलिये इसे निर्गुण भक्तिमार्ग भी कहते हैं। माहात्म्यज्ञान पूर्वक ईश्वर में अत्यन्त अनुराग पूर्ण प्रेम करना ही विश्वधर्म है और यही पुष्टिमार्ग है। यही ईश्वर के प्रति एक मात्र शुद्ध प्रेम का मार्ग है।

पुष्टिमार्ग का तत्व

पुष्टिमार्ग का तत्व है 'भगवदनुग्रह'। किन्तु यह अनुग्रह क्या है? कोई जीवित है या मूर्तिधारी मनुष्य है या जड जंगम? नहीं, अनुग्रह यह सब कुछ नहीं है। श्रीमहाप्रभुजी ने, अनुग्रह को, देखिये, अपने निबन्ध में किस प्रकार समझाया है। आप आज्ञा करते हैं–

'अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावान्निरूपितः'

अर्थात् अनुग्रह कोई जीवित पदार्थ नहीं है और न कोई मूर्तिधारी मनुष्य या जड जंगम ही है जिसे लोग प्रत्यक्ष में देख या दिखा सकें। उसे जानने की रीति यह है कि जब लोक में अनुग्रह का उत्तम फल दीखे तब अनुमान किया जाता है कि 'अमुक पर अनुग्रह हुआ।' इस अनुग्रह का स्वरूप श्रीमहाप्रभुजी ने निबन्ध में 'कृष्णानुग्रह रूपा हि पुष्टिः कालादिबाधिका' इस प्रकार कहा है। अर्थात्–पुष्टि नाम से कहा गया जो पदार्थ वह काल, कर्म स्वभाव आदि सब का जय करने वाला है अथवा जिसकी सत्ता केवल निस्साधन किसी अधिकारी को उत्तम फल होने से ही अनुमित की जाय ऐसा परम विलक्षण लौकिक और अलौकिक दोनों फलों को देने वाला भगवद्धर्म है। यह अनुग्रह यहां उदाहरण देने से विशेष स्पष्ट होगा।

इस बात को बहुत दिन हो गये। कान्यकुब्ज में एक ब्राह्मण अजामिल अपने परिवार सहित निवास करता था। उस समय के ब्राह्मण जिस प्रकार नैष्ठिक, कर्मठ और ज्ञानी हुआ करते थे, अभागा अजामिल वैसा नहीं था। कालान्तर में ब्राह्मणोचित सदाचार से वंचित हो गया था इसीलिये वह अनाचारी था। जिस द्रव्य का ब्राह्मण सद्व्यय करता है उसी द्रव्य को अजामिल ने असत्पथ पर व्यय किया था। इसे न अपने स्वरूप का ज्ञान और न भविष्य की चिन्ता ही इसे अपने असत्कार्य से विरत कर सकती थी। विषयवासना के समुद्र में डूबा रहता था। भगवान् के नाम रूपी नोका पास खड़ी थी पर यह हतभाग्य उस की तरफ देखता भी नहीं था। निदान एक दिन, पापी मनुष्य जिसका नाम सुनते ही कांप उठता है, दुर्जय मृत्यु इसके सिर पर आ पहुँची। इस अजामिल के दस बालक थे उन में से सब से जो छोटा नारायण था उस पर अजामिल की अत्यन्त कृपा थी। बडे भयंकर मृत्युदूतों को जब पाशसहित उसने अपने सन्मुख खड़े देखे तब इसे बडा डर मालुम होने लगा और साथ ही अपने बच्चे कुटुंब को छोडकर चले जाने की दारुण यन्त्रणा उसे सताने लगी। अपने इस अधम जीवन में एक बार बालक नारायण को अन्तिम समय में देख लेने की उसे बड़ी इच्छा हुई और इसी इच्छा से प्रेरित हो वह जरठ अश्रुप्लावित नेत्रों से कातर हो बालक नारायण की दिशा तरफ देख भयभीत हो पुकार उठा–'नारायण'!

एक क्षण में वहां विचित्र पविर्तन हो गया। उस मुमूर्षु अजामिल के इन अन्तिम शब्दों ने बडा प्रभावपूर्ण कथानक उपस्थित कर दिया। यद्यपि 'नारायण' यह एक सांकेतिक नाम था और यह नाम भी इस अजामिल ने भगवान् को लक्ष्य कर कभी नहीं कहा था। तथापि भगवान् ने इसे दारुण यमयातना से बचा लिया। यह है भगवान् की असीम कृपा का एक तुच्छ उदाहरण। जहां पापी अजामिल भी सांकेतिक भगवन्नाम से मुक्त हो गया। जो लोग ऐसे कृपालु भगवान् की परम भक्ति करते हैं। उन पर भगवान् प्रसन्न हो इस में तो क्या आश्चर्य है।

भगवान् की कृपा का एक प्रभाव और देखिये। महर्षि कश्यप की पत्नि ने अपने पति को अपनी अनुरक्ति से प्रसन्न किया। महर्षि प्रसन्न होकर बोले 'भद्रे, मैं तुम्हारी सेवा से प्रसन्न हूँ। तुम अपनी इच्छा मेरे आगे प्रकट करो मैं उसे परिपूर्ण करुंगा।' इस प्रकार पति के कृपा पूर्ण शब्द सुन दिति को कुछ साहस हुआ। वे बोलीं– 'स्वामिन्, इन देवताओं ने और विशेष कर इनके स्वामी ने मुझे बडा कष्ट

पहुंचाया है। यदि आप मेरी सेवा से कुछ भी प्रसन्न हुए हों तो प्रभो! मेरी कोख से एक ऐसा प्रतापशाली वीर उत्पन्न कीजिये जो इन दुष्टों का और विशेष कर इस इन्द्र का दमन करे।' मुनि की अनुकम्पा से दिति ने ऐसे ही गर्भ का कालान्तर में धारण किया। यह देख इन्द्र बड़ा भयभीत हुआ। वह इस गर्भ को नष्ट करने का उपाय सोचने लगा किन्तु कोई उपाय

उसे न सूझा। दैवात् उसके इस मनोरथ की सफलता हो गई। एक दिन दिति प्रमाद वश उच्छिष्ट मुख ही सो गई। यह योग्य अवसर देख इन्द्र अपने योगबल से दिति के जठर में प्रविष्ट हुआ और अपने अमोघ वज्र से उस अबोध और निरीह गर्भ पर प्रहार किया। यह प्रहार तब तक हुआ जब तक गर्भ के ४६ टुकडे न हो गये। जब उनंचास टुकडों में टूट कर भी गर्भ न मरा तब इन्द्र डरा और ईश्वर के असीम अनुग्रह का उसे स्मरण हुआ। वह समझ गया कि जिस पर भगवान् का अनुग्रह होता है उसकी सर्वत्र रक्षा भगवान् करते हैं। उसे विश्व की भयंकर से भी भयंकर शक्ति पछाड़ नहीं सकती। उसे अपने इस गर्हित कर्म से बडी लज्जा आई। वह स्वयं वहां से निकल कर भाग जाना चाहता था किन्तु कोई अज्ञात शक्ति उसे अकेला भागने से रोक रही थी। निदान वह उन उनंचास जीवित टुकडों को भी अपने साथ स्वर्ग में ले गया और उन्हें अपने भाई कह कर लोक में उनको परिचित कराया। वे ४६ टुकड़े ही आज मरुद्गण के नाम से प्रसिद्ध हैं।

दिति गर्भ की यह कथा ओर इसके पूर्व में कही हुई पापी अजामिल की कथा भगवदनुग्रह किंवा पुष्टिमार्गीय तत्व के अच्छे परिचायक हैं। एक गर्भगत बालक महाबलशाली इन्द्र के हाथ से वज्र जैसे अमोघ प्राण हर अस्त्र से मारे जाने पर भी न मरा और न नष्ट ही हुआ। यह है भगवान् का अनुग्रह। काल, कर्म, स्वभाव इन सबकी परवाह भगवान् का अनुग्रह नहीं करता। अजामिल निरन्तर पापाचरण करने वाला केवल नामाभास से काल तक को जीत सका अर्थात् दुर्जय मृत्युपाश से भी मुक्त हो गया। यह काल का कैसा उल्लेखनीय पराभव हुआ। निश्चित कर्म करते रहने पर भी उन कर्मों की दुष्ट यातना न मिलकर जो भगवत्प्राप्ति हुई यह है कर्म की जय इसी प्रकार इन्द्र भी विश्वरूप, दधिची और वृत्र के मारने पर भी अशुभ कर्म का फल भोगकर अपने ही स्थान पर स्थित रह सका यह भी केवल श्रीहरि की असीम कृपा और उनके अनुग्रह का एक जाज्वल्यमान प्रताप है।

सर्वार्थ साधक पुष्टिमार्ग

भगवान् का अनुग्रह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करता है। जो अपने आप को पुष्टिमार्गीय भक्त समझता है उसकी आवश्यकता बहुत कम हुआ करती हैं। उसकी सब आवश्यकताओं को प्रभु आप पूर्ण करते रहते हैं और वह विशेष कुछ भी अपने लिये आवश्यक नहीं समझता। भगवान् स्वयं जिसके अर्थ स्वरूप बनें उसके जैसा भाग्यवान् और कौन होगा ? ऐसे भक्त के लिये महाप्रभुजी लिखते हैं– 'एवं सदास्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति। प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्।' भक्त के भगवान् ही अच्छे अर्थरूप हो जाते हैं। भगवान् सब करने में समर्थ हैं। जो भजन रूप धर्म यथार्थ करें तो भगवान् ही अपने अर्थरूप हो जाते हैं और इस लोक और परलोक का सब कार्य आप ही कर लेते है इस लिये पुष्टिमार्गीय भक्त को तो सर्वदा निश्चिन्त ही रहना चाहिये।

'वैराग्यं परितोषं च सर्वथा न परित्यजेत्' अर्थात् अपनी दशा पर ही सन्तोष रखना उचित है। अपने हृदय में श्रीहरि के अनुराग के अतिरिक्त और किसी भी वासना को उत्तेजित करना सर्वथा अयोग्य है। अपने सकल मनोरथ भगवान् सिद्ध करेंगे यह पूर्ण विश्वास होना चाहिये। भक्त के हृदय में वैराग्य और सन्तोष का रहना परमावश्यक है। पुष्टिमार्गीय भक्त कितने निरपेक्ष होते हैं उसका एक उदाहरण यहां दे देना उचित्त होगा।

मुगलराज्यकालीन एक कथानक प्रचलित है। राजा मानसिंह कुछ राजप्रसंग वश मथुरा आया हुआ था। कुम्भनदास के भक्तिरस से भरे हुए पदों को सुन राजा का मन कुम्भनदास को एक बार देखने को बहुत कर रहा था। अपनी इसी अभिलाषा को पूर्ण करने राजा कुम्भनदास के गांव पारसोली गया। कुम्भनदास उस समय स्नान से निवृत्त हुए थे और तिलक लगा रहे थे। उन की आर्थिक स्थिति उस समय बडी खराब हो रही थी। यहां तक कि अपना मुख देखने के लिये अपने घर काच का टुकड़ा भी नहीं रख सकते थे। कुम्भनदास उस समय जल में मुख देख तिलक लगा रहे थे। राजा को इन की यह परिस्थिति दयनीय मालुम हुई और इनने अपने पास से एक थैली मोहर की निकाल उसे स्वीकार करने की इनसे प्रार्थना की। सन्तोषी दरिद्र वैष्णव बोला 'महाराज में इस द्रव्य का क्या करुंगा? मेरे मन तो श्रीठाकुरजी जो भी कुछ मुझे कृपा कर दे देते हैं वही बहुत है और उसे ही मै निर्दोष द्रव्य समझता हूं। मेरी इस छोटी सी खेती में से

और इन चार वृक्षों से जो कुछ आता है, मेरे लिये तो वही बहुत है।' राजा ने इस पर कहा– वैष्णवराज, यह छोटी सी खेती आप के लिये बहुत थोडी है आज्ञा हो तो इस सारे गांव को आपके नाम लिखा दूं।' कुम्भनदास ने इसे भी स्वीकृत नहीं किया तब राजा ने कहा 'महाराज, कुछ तो आज्ञा करिये।' तब कुम्भनदास ने कहा 'राजन्, हम और क्या कहें? भक्त को और कहने का अधिकार ही क्या है? मैं हरियश जिस प्रकार गान करता हूं आप भी उसी प्रकार हरिनाम लिया करें और क्या?' राजा इन के यह निरपेक्ष वचन सुन परम प्रसन्न हुआ और साष्टाड्.ग प्रणाम कर बोला 'प्रभो! माया के दास तो बहुत देखे किन्तु ईश्वर के दास मैंने आज तक नहीं देखे सो आज आप के दर्शन कर मैं कृतार्थ हुआ।'

पुष्टिमार्गीय भक्त के सर्वार्थ साधक भगवान् स्वयं बन जाते हैं। उनको किसी बात की अपेक्षा करनी ही नहीं पडती। भगवद्रूपी अर्थ स्वार्थों से निरपेक्ष है। भगवान् की साधना करने में किसी भी अर्थ की अपेक्षा नहीं रहती। भगवान् ने स्वयं आज्ञा की है– 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।' अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति ही योग है और प्राप्त वस्तु का संरक्षण करना ही क्षेम है। इसी लिये भक्त को उचित्त है कि वह प्रभु के प्रति कोई भी प्रत्युपकार की प्रार्थना न करे। भगवान् को यदि अमुक वस्तु अपने भक्त को देनी है तो वह अवश्य ही देंगे। यदि देने की इच्छा नहीं है तो मांगने पर भी नहीं देंगे। अतः मौनावलंबन ही योग्य है। ईश्वर में अत्यन्त विश्वास होना ही जीव का परम कर्तव्य है। जीव को योग्य है कि वह ईश्वर के सर्व कार्य में अपनी भलाई ही देखे। भक्त की बुराई होने पर भी धैर्य रखना योग्य है। न जाने कब प्रभु भाग्योदय करे? विपत्ति में विचलित होने से भक्त की अस्थिरता मालुम होती है।

ऐसे ही सरल किन्तु उत्तमोत्तम मार्ग को प्रचलित करने वाले श्रीमद्वल्लभाचार्यजी थे। जब देश, काल, द्रव्य, मन्त्र, कर्ता और कर्म ये छओ पदार्थ शुद्ध हों तब यज्ञ यागादिक एवं अन्य वैदिक क्रियाएं फलवती हो सकती हैं। कलियुग में इन छओं वस्तुओं का शुद्ध रूप में मिल जाना अत्यन्त दुर्लभ है। इसलिये जीव के परम कल्याण के लिये श्रीमहाप्रभुजी ने, यह विचार कर, कि कलियुग में बिचारा अल्प सामर्थ्य सम्पन्न जीव अपने प्रयास से भगवत्प्राप्ति नहीं कर सकता और न वह यहां यज्ञ यागादिक कर के ही अपना मोक्ष कर सकता है। यह सर्वोच्च फल प्रदान करने वाला पुष्टिमार्ग लोक में प्रचलित किया। यह ऐसा उत्तम मार्ग है कि–

'धावन्निमील्य वा नेत्रे पतेन्नस्खलेदिह।' अर्थात्–इस भक्तिमार्ग का आंख मीच कर भी बुरे का ज्ञान रहित होकर भी यदि अनुसरण करता जाय तो भी वह कभी न तो गिरेगा न उसका स्खलन ही होगा।

उत्तममार्ग का यही लक्षण है–

मार्गोयं सर्वमार्गाणामुत्तमः परिकीर्तितः।
यस्मिन्पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा हरिः।

अर्थात्–पुष्टिमार्ग सब सम्प्रदायों से श्रेष्ठ है। क्योंकि यहां गिरने या पड़ने का भय नहीं है। भक्ति मार्ग का अनुसरण करते रहने से कभी लौकिक या वैदिक बाधा आकर उसे कर्तव्य विमुख नहीं कर सकती क्यों कि यहां तो सर्व दुःखों के मोचक आनन्द कन्द भगवान् श्रीकृष्ण हैं। वे ही सर्वथा जीव के मालिक हैं। जीव ने तो उनको ही अपना आत्मसमर्पण कर दिया है। अब उसे डर नहीं है। श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं–

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति।
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्।।

अर्थात्–पुष्टिमार्गीय वैष्णव को जिसने ब्रह्म संबंध ले लिया है। अपने विषय में चिन्ता नहीं करनी चाहिये। क्योंकि अब तो भगवान् उसके मालिक हो गये हैं वे सेवककी दुर्गति नहीं करेंगे। पुष्टिस्थ भगवान् जीव की लौकिक गति नहीं करेंगे।

पुष्टिमार्ग के अधिकारी कौन है?

हम अन्यत्र कह आये हैं कि हमारा पुष्टिमार्ग विश्वधर्म है। क्योंकि यह ऐसा सीधा, सरल और सच्चा मार्ग है, जिसमें मोक्ष की प्राप्ति और २ मार्गों की अपेक्षा बहुत शीघ्र हो सकती है। यहाँ केवल भगवान् की कृपा ही सब कुछ है। क्यों कि जीव निःसाधन है। जब भगवान् कृपा करते हैं तभी मनुष्यसिद्धि को प्राप्त कर सकता है यह लोक प्रसिद्ध है। यहां भी भगवान् की कृपा को सब कुछ माना गया है। इसी लिये यह सर्वोत्तम मार्ग है और यही एक विश्वधर्म है।

इस भक्तिमार्ग में सभी का अधिकार समान रूप से है। भगवान् को जो प्रेम से भजे, जो भगवान् श्रीकृष्ण को ही सब कुछ मानें और उन्हीं का जगत्पावन नाम लिया करें और जो पुष्टिमार्ग का अनुसरण करें वही पुष्टिमार्गीय जीव हो सकता है। यहां आर्य और अनार्य, ईसाई या मुसलमान, स्त्री या शूद्र सब को इस मार्ग

में अधिकार है। जिस की इच्छा हो वह वैष्णव हो सकता है। यहां तो– जात पांत पूछे नहि कोई हरि को भजे सो हरि को होई यह सिद्धान्त हैं। इस बात का दृढ अनुमोदन श्रीमद्भागवत में है–

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकंका यवनाः खसादयः।
येन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।

अर्थात्–ऊपर के श्लोक में बताई हुई किरात, हूण, बर्बर, यवन, मुसलमान, ईसाई आदि जाति मात्र श्रीकृष्ण का आश्रय लेने से पवित्र हो जाती हैं। यही नहीं पुष्टिमार्गीय प्रभाव तो यह है कि इन म्लेच्छों का उद्धार प्रभु के दासानुदास भी कर सकते हैं।

अतः पुष्टिमार्ग सब ग्रहण कर सकते हैं। श्रीमहाप्रभुजी के भक्त हैं अथवा जिनकी इच्छा यह है कि महाप्रभुजी की सृष्टि का विस्तार हो उन्हें उचित है कि वे अपने जन्म में कम से कम तीन विधर्मियों को वैष्णव बनायें। भगवद्भक्त का यही कर्तव्य है कि वह औरों का भी उद्धार करे और पुष्टिमार्गीय धर्म को विश्व धर्म बनाये।

शुद्धाद्वैत

इस पुष्टिमार्ग को शुद्धाद्वैत भी कहते हैं। अतः शुद्धाद्वैत शब्द पर भी विचार कर लेना उचित्त है। इस में दो शब्द हैं एक 'शुद्ध' और दूसरा 'अद्वैत'। द्वैत से जो उल्टा है–वही अद्वैत है इस लिये द्वैत का वर्णन करने से उसके विरुद्ध स्वरूप का ज्ञान हो जायेगा।

नाम तथा रुप से, ईश्वर तथा जीव रूप से कार्य और कारण रूप से जो जो दो प्रकार का ज्ञान हो उसे द्वैत कहते हैं। इसी के विरुद्ध जो ज्ञान–दो प्रकार का ज्ञान न होना उसे ही अद्वैत कहते हैं। यह वेद में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति पठ्यते।' (उत्पत्ति, लय तथा स्थिति इस जगत् की ब्रह्म में ही है। इस लिये यह दृश्यमान् सर्व नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म है) यह अद्वैत का उदाहरण है। जगत् और ब्रह्म विषय में दो प्रकार का ज्ञान होना 'द्वैत' है और एक प्रकार का ज्ञान होना 'अद्वैत' है।

अब यह देखें कि इस 'अद्वैत' के साथ 'शुद्ध' शब्द का प्रयोग क्यों किया। 'अद्वैत' शब्द और लोगों के यहां भी प्रयुक्त होता है उन से विशेषता दिखलाने के लिये ही शुद्ध शब्द का प्रयोग है। जिन लोगों के यहां 'अद्वैत' शब्द प्रयुक्त होता

है वहां सब पदार्थ ब्रह्म रूप ही माने गये हों यह नहीं है। उस 'अद्वैत' में सिद्ध किया गया है कि 'यह जगत् माया रूप है। मिथ्या है और ब्रह्म सत्य निर्विशेष और अद्वितीय है। इस प्रकार जगत् को शून्य (प्रच्छन्नबोद्ध) मिथ्या और बह्म को निर्विशेष माना गया हैं किन्तु यह शुद्धाद्वैत में मान्य नहीं है। शुद्धाद्वैत का तो सिद्धान्त यही है कि यह सब जगत् ब्रह्मरूप है सत्य है। इसी लिये उस अद्वैत से इसकी विरुद्धता दिखलाने के लिये ही शुद्ध शब्द 'अद्वैत' में लगाया गया हैं शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार यह जगत् ब्रह्मरूप है उस से अलग नहीं है। इस में और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। जो कुछ भेद हमे दिखलाई दे वह सब हमारी अविद्या है। अहन्ता ममता हैं इसकी ही निवृत्ति करनी चाहिये तब ब्रह्म में और जीव में कुछ भी भेद नहीं रहता।

अभ्यासार्थ प्रश्न

पुष्टिमार्ग किसे कहते है ?
पुष्टि मार्ग के दूसरे नाम क्या हैं ?
वैष्णव को पुष्टिमार्ग का रहस्य क्यों जानना चाहिये ?
पुष्टिमार्ग में प्रमाण ग्रन्थ कौन कौन से है ?
पुष्टिमार्ग को किसने चलाया ?
पुष्टिमार्ग का मर्म क्या हैं ?
पुष्टिमार्ग विश्वधर्म क्यों हो सकता है ?
पुष्टिमार्ग का तत्व क्या है ?
अजामिल की कथा क्या है? आर आपने इसका तात्पर्य क्या समझा ?
पुष्टिमार्गीय भक्त द्रव्य की इच्छा रखता है क्या ?
कुम्भनदास की कथा लिखिये ?
शुद्धाद्वैत क्या है ?
पुष्टिमार्ग में अधिकारी कौन हैं ?
पुष्टिमार्ग को विश्वधर्म कैसे बनाओगे ?

पुष्टिमार्ग में वेदों का स्थान

शुद्धाद्वैत वैष्णवों के यहां वेदो को प्रमाण माना है। जो लोग इस सम्प्रदाय को अवैदिक कहते हैं वे मूर्ख हैं। इस मार्ग के संस्थापक श्रीवल्लभाचार्यजी ने वेदों पर परम विश्वास प्रकट किया है और जहां तहां इसके प्रमाण भी दिये हैं पुष्टिमार्ग में वेदों को सर्वोच्च पद प्राप्त है और सच कहा जाय तो पुष्टिमार्ग का उद्‌गम स्थान ही वेद है।

वेदों के विषय में तो आचार्यों का मत है–

वेदोक्तादणुमात्रेऽपि विपरीतं तु यद्भवेत ।
तादृशं वा स्वतन्त्रंचेदुभयं मूलतो मृषा।।

अर्थात् वेदों की उक्ति से अणुमात्र भी जो विपरीत हो अथवा जो विपरीत जैसा भी दीखे अथवा वेदों से सर्वथा अथवा कुछ भी स्वतन्त्र हो तो वह मूल से ही झूंठा समझना चाहिये और किसी भी दशा में वह सन्मान्य नहीं हो सकता।

श्रीमदणुभाष्य में आप आज्ञा करते हैं–

'अनवगाह्यमाहात्म्ये श्रुतिरेव शरणम्' अर्थात् अचिन्त्य माहात्म्य युक्त ब्रह्म के विषय में जहां कुछ भी मालुम पड़ता न हो वहां वेदों को ही प्रामाण्य मानना। उसकी उक्ति को ही यथार्थ मानना चाहिये। अन्य ग्रन्थों की शरण लेना भ्रमावह है।

वेदों में अपनी परमश्रद्धा व्यक्त करते हुए आपने कहा है–

'अल्पकल्पनायामपि श्रुतिविरोधः सिद्धः।' 'श्रुत्यविरोधार्थमेव हि प्रवृत्तेः' वेदों के अक्षरों में जरा भी कल्पना करने से विरोध आजाता है। शास्त्रों की तो प्रवृति श्रुति के अविरोध सिद्ध करने की ही है।

हम यहां पर इस बात के प्रमाणभूत कुछ वाक्य उद्धृत करते हैं जिनके पढ लेने पर विदित हो जायेगा कि श्रीमद्वल्लभाचार्यजी वेदों पर कितना अटल विश्वास और कितना दृढ प्रामाण्य रखते थे। इन्हीं वाक्यों से वेदों का पुष्टिमार्ग में कितना उत्तम स्थान है यह भी भली भांति प्रमाणित हो जायगा।

वेदों को अप्रतारक और सर्वज्ञ मानते हुए आप सिद्ध करते हैं–

''न हि वेदवादिनामणुमात्रमप्यन्यथाकल्पनमुचितम्।

न च भ्रमात्कल्पनं वेदेनोच्यते। अप्रतारकत्वात्सर्वज्ञत्वाच्च''

अर्थात्– वेदवादियों को और जो लोग वेदों पर भाष्य अथवा वेदों का अर्थ करते हैं उन्हें उचित है कि वे वेद में अणुमात्र अन्यथा कल्पना न करें, वेदों का अर्थ करते समय अपनी तरफ से न तो एकाध अक्षर ही जोडें या कम करें अथवा न उन वेदाक्षरों को भी तोड़ मरोड़ कर कोई अर्थ निकालें। उन को उचित है कि वे वेदार्थ का प्रतिपादन उसी प्रकार करते जांय जैसा कि वेदों का तात्पर्य हो। वेद सर्वज्ञ हैं और अप्रतारक हैं उन में अनुचित या उचित कल्पना भी योग्य नहीं है।

वेदों का प्रतिपादन करने के लिये ही अन्य शास्त्र मात्र की प्रवृत्ति हुई है अतः जैसे भी हो सके यथा संभव वेदों के अक्षर को भी बाधा न आये इस प्रकार वर्तन करना चाहिये। पारलौकिक सब विषयो में वेद ही प्रमाण हैं। इसी पर गाढ विश्वास प्रकट करते हुए आप आज्ञा करते हैं–

वेदे सर्वत्र नाधिक्यम्।

अतो वेदपरित्यागेनाधिकमेलनेन वा न वेदार्थो वक्तव्यः।

अतो वेदाद्यसंवादी नार्थो ग्राह्यः कथंचन।'

अर्थात् समग्र वेद में कुछ भी अधिक नहीं कहा गया है सर्वत्र उचित और योग्य ही लिखा गया है। न कहीं बढा के कहा गया है और न कहीं न्यून ही कहा गया है। अतः वेदों का अर्थ करते समय भी अपनी तरफ से न्यूनाधिक कुछ भी नहीं लगाना चाहिये इसी प्रकार वेदों के प्रतिकूल अर्थ को भी ग्रहण नहीं करना चाहिये।

आचार्यश्री के वेदों के विषय में यह मत हैं।

''नैव केवलयुक्त्या लोकदृष्टान्तेन निर्णयः शक्यते कर्तुम्।

अन्यथेदं शास्त्रं व्यर्थमेव स्यात्। अत्र हि वेदादेव ब्रह्मस्वरूपज्ञानम्।''

अर्थात्–इस केवल युक्ति या लोकदृष्टान्त का आश्रय लेकर ही निर्णय करना अशक्य है। अन्यथा इस शास्त्र का अस्तित्व ही व्यर्थ हो जायगा। यहां तो वेद से ही ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान हो सकता है।

'वस्तुतस्त्वलौकिकार्थे वेद एव प्रमाणं नान्यत्।'

अर्थात्–सत्य तो यह है कि अलौकिकार्थ का ज्ञान कराने में वेद ही प्रमाण हैं और कोई शास्त्र नहीं।' वेदों के विषय में आपश्री ने अपने तत्वदीप निबन्ध में कहा है कि जो मनुष्य वेद के विरुद्ध कार्य करते हैं वे सब पाखण्ड़ी है। चाहे उनका वह कार्य कितना ही छोटा क्यों न हो या बडा क्यों न हो।

अपनी सेवा पद्धति को वेद से सिद्ध करते हुए आपने कहा है–

'वेदानुसारेण भगवद्भजनं विहाय नान्यमार्गे यतनीयम्'

अर्थात् भगवान् की सेवा या भक्ति वेद के अप्रतिकूल करनी चाहिये और मार्ग से सेवा पूजा या भक्ति अवैदिक होने से त्याज्य है। इस वाक्य से पुष्टिमार्गीय सेवा पद्धति वेदानुसारिणी होती है यह बात बतलाई गई है।

धर्मनिर्णय में लौकिक युक्ति अनुपयुक्त है इसी को व्यक्त करते हुए आप कहते हैं–

'अलौकिकेषु धर्मेषु प्रमाणमेवानुसर्तव्यम्। न लौकिकीयुक्तिः।

लौकिकं हि लोकयुक्त्यावगम्यते। ब्रह्म तु वैदिकम्।' अर्थात्–अलौकिक धर्म में प्रमाण का ही, शास्त्र का ही– अनुसरण करना चाहिये। लौकिक युक्ति से वहां काम नहीं चल सकता। क्योंकि लौकिक वस्तु का लौकिक युक्ति से ज्ञान होना सम्भव है। अलौकिक वस्तु का उससे ज्ञान नहीं हो सकता। ब्रह्म–धर्म–तो अलौकिक और वैदिक है।

ब्रह्म को वेद के कथन के विरुद्ध थोड़ा भी मानने से दोष आ जाना सम्भव है इसी बात को आप कहते है–

**'ब्रह्म पुनर्यादृशं वेदान्तेष्ववगतं तादृशमेव मन्तव्यम्।
अणुमान्नान्यथा कल्पनेऽपि दोषः स्यात्।'**

अर्थात्–ब्रह्म का वेद और वेदान्तो में जैसा वर्णन किया गया है वैसा ही समझना चाहिये। जरा भी दूसरी तरह से मानने में दोष आ जाता है।

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी वेदो में आये हुए आख्यान और उपाख्यानों को वैसा ही सत्य मानने की आज्ञा देते हैं जैसा उनकी ऋचाओ को। वेद पर आपको परम विश्वास है। आपने तो आज्ञा की है कि मन में वेद के मिथ्या कहने का विचार भी उठने से जीव दोष ग्रस्त हो जाता है। वेदों का प्रामाण्य स्वीकार करते हुए

आप कहते हैं कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी अन्यमुख देखने से परतन्त्र प्रमाण हैं। वे अपने आप ही प्रमाण नहीं हैं। यदि वे स्वतः प्रमाण हों तो कभी भ्रम उत्पन्न ही न हो। इसलिये अन्य प्रमाण की अपेक्षा से रहित स्वतः प्रमाणभूत भगवद्रूप वेद ही परम प्रमाण हैं।

तर्क के द्वारा धर्म का निर्णय अथवा ब्रह्म का निर्णय करना योग्य नहीं है इसी बात के लिये आपने कहा है कि 'वेदोक्त अर्थ में उस शुष्क तर्क को जगह देनी उचित नहीं है क्योंकि तर्क की स्थिरता नहीं है। श्रुति ही ब्रह्म के विषय में प्रमाण है क्योंकि ब्रह्म केवल स्वतः प्रमाणभूत शब्दगम्य है अतः श्रुत्युक्त अर्थ का शुष्क तर्क से खून करना योग्य नहीं है। अचिन्त्य विषयों में तर्क को स्थान ही नहीं देना चाहिये।

'वेदों का लौकिक दृष्टि से अर्थ करना वेद की हिंसा करने के बराबर है।' 'प्रभु का भक्त भी यदि वेद की निंदा करे तो वह नीच है।' उपर्युक्त उदाहरणों के द्वारा यह सिद्ध हो जायेगा कि इस मत के प्रवर्तक श्रीमद्वल्लभाचार्यजी वेदों का कितना उच्च आदर करते थे और वेद के विरुद्ध किसी भी बात को कितना धिक्कारते थे उन्हीं से संचालित यह सम्प्रदाय वेदों पर परम विश्वास रखता है और अपनी पूर्ण श्रद्धा उस पर समय २ पर व्यक्त करता आ रहा है। दो चार मूर्खों के मुख से दो चार निराधार बातों को सुन कर जो लोग इस सम्प्रदाय को अवैदिक बतलाने की चेष्टा कर रहे हैं उनको जरा उपर्युक्त उदाहरण ध्यानपूर्वक पढ़ने चाहिये। सम्प्रदाय का रहस्य समझे बिना कुछ भी बोलना अपनी अज्ञानता सिद्ध करता है। श्रीमद्वल्लभाचार्यजी और उनके आज तक के वंशधर वेदों पर पूर्ण श्रद्धा रखते हैं और वेदों को भगवान् का ही स्वरूप मानते हैं। वेद, ब्रह्मसूत्र गीता और श्रीमद्भागवत ये चार शास्त्र हमारे सम्प्रदाय में प्रमाण माने गये हैं। इनमें वेदों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। किन्तु वेदों का अर्थ वेदों से ही स्पष्ट नहीं हो सकता इसलिये सन्देह की निवृत्ति के लिये इन पीछे बताये हुए शास्त्रों को भी माना है। वेदों के सन्देह की निवृत्ति इन तीनों शास्त्रों से हो सकती है। इनमें से श्रीमद्भागवत तो वेद का मानों स्पष्ट अर्थ ही है इसी लिये इसे हमारे यहां सर्वथा पूज्य गिना है।

पुष्टिमार्ग में वर्णाश्रम

पुष्टिमार्गीय वैष्णवों के लिये वणाश्रम धर्म परम माननीय है। जो लोग आपको निरा पुष्टिभक्त कह कर वर्णाश्रम धर्म की उपेक्षा करते हैं वे भूल करते हैं। उनके लिये और अन्य वैष्णवों के लिये यह बात परम माननीय होनी चाहिये कि वर्णाश्रम ही हमारे पुष्टिसम्प्रदाय की भूमि है। यद्यपि भक्ति सामान्य धर्म है यह शास्त्र और युक्ति से सिद्ध है तथापि वैष्णव धर्म जब विशेष धर्म है तब वर्णाश्रम धर्म तो साधारण धर्म है इसे तो सर्वथा मान्य करना ही चाहिये। प्रसिद्ध है कि जमीन के बिना दीवार खड़ी नहीं होती उसी प्रकार वर्णाश्रम धर्म भूमि है और वैष्णव धर्म है इसकी भित्ति। वैष्णव मात्र को इस प्रकार अपना व्यवहार रखना चाहिये जिससे वर्णाश्रम धर्म के व्यवहार में बाधा न पहुंचे। वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना वैष्णवों का एक अत्यावश्यक कार्य है। हमारे आचार्य चरणों ने निबन्ध में इसके विषय में यों आज्ञा की है–

वर्णाश्रमवतां धर्मः श्रुत्यादिषु यथोदितः।
तथैव विधिवत्कार्यः स्ववृत्त्यन्नेन जीवता।।

अर्थात्–श्रुति स्मृति में कहे गये वर्णाश्रमधर्म का पालन जैसे कहा गया है वैसाही करना चाहिये। जिस वर्ण की जिस वृत्ति को करने का शास्त्र उपदेश देता हो वही करना चाहिये और उसीसे अपना जीवन चलाना चाहिये।

जिस प्रकार बिना मूल के वृक्ष नहीं रह सकता उसी प्रकार वर्णाश्रम धर्म के बिना पुष्टिमार्ग का रहना भी अशक्य है। इसलिये वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना हमार केवल शास्त्रीय सिद्धान्त ही नहीं किन्तु वह व्यवहार की दृष्टि से भी अत्यन्त अपेक्षित है। फलतः जिस प्रकार गौ और ब्राह्मण की रक्षा करना वर्णाश्रम धर्म है उसी प्रकार यह पुष्टिमार्गीय धर्म भी है और इनकी रक्षा करना प्रत्येक वैष्णव का कर्तव्य है।

अन्य देवताओं का हमारे यहां स्थान

हमारे सम्प्रदाय में अन्यदेवताओं की उपासना उन्हें अपना स्वामी समझकर नहीं होती। सब देवता भगवान् के ही अंग है। किन्तु शिव व विष्णु को न मानना इसका अर्थ उनकी अवज्ञा करना नहीं है। एकाश्रय को हमारे यहां सर्वोत्कृष्ट माना है और अन्याश्रय को हेय। यदि सोचकर देखा जाय तो इस बात को विचारशील मनुष्य पसन्द करेंगे। अनवस्थित चित्त होकर विविध देवों की उपासना विविध अवसरों पर करने से मानसिक शैथिल्य कितना बढ़ जाता यह विद्वान लोग जानते हैं यहां पर इसी बात को उदाहरण स्वरुप से समझाई जाती है–

कनकपुर में राजीवलोचन नाम के एक बड़े धनाढ्य व्यक्ति निवास करते थे। वे श्रीकृष्ण में परम विश्वास तो रखते ही थे किन्तु उसी के साथ हनुमानजी, गणेशजी शिवजी और चण्डी का भी कुछ इष्ट रखते थे। श्रीकृष्ण के दर्शन नित्य करते तो शिवजी के सोमवार को, चण्डी के मंगलवार को, गणेशजी के बुधवार को और हनुमानजी को शनिश्चर को जाकर पूजा चढा आते थे। वे श्रीकृष्ण को उत्तम देवता मानते थे किन्तु उपर्युक्त देव देवताओं को भी उनसे बहुत शक्तिहीन नहीं समझते थे। वे शिवजी को कल्याण देने वाले, देवी को आश्रित की रक्षा करने वाली, गणेशजी को मंगलकारी और हनुमानजी को बल देने वाले समझ उनकी उपासना करना श्रीकृष्ण की उपासना करने से कम नहीं मानते थे तथा इसे भी आवश्यक अंग में गिना करते।

एक समय की बात, राजीव लोचन चीन से व्यापार कर एक बड़ी भारी नाव में अपने धन सहित भारत वर्ष लौट रहे थे। दैवेच्छावश समुद्र में एक बड़ा भारी तूफान उठा। सेठजी बडे संकट में पड़े। सब प्रयत्न कर लिये किन्तु किसी प्रकार से भी प्राण बचें ऐसा दिखलाई नहीं दिया। निदान सेठ जी ने हारकर हनुमानजी की स्तुति कर उनसे नाव को बचाने की प्रार्थना की। पवनसुत हनुमानजी आयें वहां तक सेठजी का धैर्य नाव की विकट स्थिति देख जाता रहा और उनने महादेवजी की स्तुति शुरु कर दी। पवनसुत ने सेठजी के अन्याश्रय को देख अपनी गदा धर दी। महादेव जी अपने नन्दी पर बैठें २ इतने में सेठजी ने गणेशजी की स्तुति शुरु कर दी। कहने का मतलब यह कि सेठजी को दृढ

विश्वास किसी पर नहीं था। उननें इसी प्रकार गणेशजी तथा देव देवीओं की स्तुति एक के बाद एक की। किन्तु दृढ विश्वास न होने पर कोई भी देवता रक्षा नहीं कर सके और समुद्र देव ने उन्हें अपने अनन्त गर्भ में आश्रय दे दिया।

उपर्युक्त उदाहरण से अनन्याश्रय का महत्व समझ में आ जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने स्वयं आज्ञा की है–

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।

अर्थात्– जो मनुष्य अनन्य होकर, केवल एक मुझ में ही अत्यन्त दृढ विश्वास रख कर, मेरी भक्ति करते हैं, ऐसे दृढाग्रही मनुष्यों की रक्षा स्वयं मैं करता हूँ।

श्री भागवत

पुराणों का शिरोमणि, वेदों के अगम्य अर्थों का सहज बोधक, बडा मनोहर और परम तत्व श्रीमद्भागवत हमारे सम्प्रदाय में अत्युच्च स्थान प्राप्त कर रहा है। प्रत्येक वैष्णव को इस पर अटूट श्रद्धा होनी चाहिये। सच कहा जाय तो हमारे सम्प्रदाय का बहुत कुछ आधार श्रीमद्भागवत ही है। अतएव उसके स्वरुप को जान लेना अत्यन्त आवश्यक है।

संस्कृत में एक श्लोक है जिसका अर्थ होता है कि हजारों शास्त्र पढ लिये और सैंकडो ही शास्त्रों का संग्रह कर लिया हो किन्तु यदि श्रीमद्भागवत न पढी हो तो सब व्यर्थ हो जाता है।

श्रीमद्भागवत, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के ज्ञानकलावतार भगवान् वेद व्यासजी की भगवदाज्ञाप्त रचना है। भगवान् श्रीकृष्ण के इस लोक से अन्तर्हित हो जाने पर श्रीमद्भागवत ही यहां उनके स्वरुप से बिराजते हैं। वेदों के सम्पादन कर लेने पर, इतिहास और कुछ थोड़े पुराणों की भी रचना कर लेने पर जब व्यासजी को सन्तोष नहीं हुआ, इतने श्रेयः सम्पादन करके भी जब वे अपने आपको असम्पन्न मानने लगे तो उनको बड़ा दुःख हुआ और सोचने लगे कि यह क्या बात है? मैने इतिहास और पुराणों की रचना करके लोगों को ऐसे कल्याणकर मार्ग का अनुसरण करने वाले बना दिये फिर भी मेरी आत्मा सन्तुष्ट क्यों नहीं होती?

उस समय भगवान् अंशुमाली अपने सारथी सहित अपने क्रीड़ा क्षेत्र में आ रहे थे। पक्षीगण अपने मधुर कलरव से आश्रम की स्वाभाविक शान्ति में व्याक्षेप डालना चाहते थे। आश्रम के अन्य प्राणी अपने अपने कार्य में व्यस्त थे और भगवान् व्यास अपनी चिन्ता में सरस्वती नदी के तट पर बैठ कर एकाग्रचित हो अपने कार्य पर सुसंयतदृष्टि दे रहे थे और अपनी आत्मा के असन्तोष के कारण को ढूंढ रहे थे इतने में देखा भगवान् श्रीकृष्ण के नारद, वीणा की झंकार करते हुए अपनी स्वाभाविक मुसकान के साथ धीरे २ उन्हीं की तरफ आ रहे हैं।

व्यासजी इनके आगमन पर बहुत प्रसन्न हुए। खास कर इस अवसर पर, जब कि वे एक अत्यन्त गम्भीर प्रश्न के उत्तर में अव्यवस्थितचित्त हो रहे थे, नारदजी का आगमन उन्हें बड़ा अच्छा मालुम हुआ।

व्यासजी के अतिथि शिष्टाचार के अनन्तर श्रीनारद ने साधारण उपचार के तोर पर अपने विश्वविमोहक मुसकान के साथ पूछा–भगवान्, आप की आत्मा तो प्रसन्न है? आप अपने शरीर और मनसे तो प्रसन्न हैं न ? आप के अभी २ बना ए हुए पुराण और वेदों का योग्य सम्पादन हमने देखा है। विशेष कर भारत देखव र तो हम बड़े प्रसन्न हुए हैं। आपने इस ग्रन्थ को लिखकर जीवों पर जो उपकार किया है वह सर्वथा प्रशंसनीय है। किन्तु महात्मन्, मुझे क्षमा करना, आपने ऐसे सर्वार्थपरिबृंहित ग्रन्थों का प्रणयन किया है फिर भी, आज मैं देख रहा हूं कि आप उदास हैं, आपके मुख से स्पष्ट लक्षित हो रहा है कि आप इतने कृत कार्य होकर भी अपने आपव । अकृत कार्य जैसा मान रहे हैं। यह क्यों? आप इसका कारण मुझे बतायेंगे?

भगवान् व्यासजी नारदजी के इस प्रश्न पर कुछ मुसकाये। बोले– 'देवर्षि, आपका कहना यथार्थ है। मेरा मन आज सत्य ही उदास है। आपने कहा सो ठीक है कि मैने मनुष्य के दुःख को देखकर उसके उपाय में भारत जैसे उत्तम ग्रन्थ का प्रणयन किया है और वह एक उत्तम कार्य हुआ है। यह भी ठीक है कि भारत का तो केवल व्यपदेश है– वास्तव में कहा जाय तो इसमें मैने वेदों का सार और अर्थ रख दिया है। इसी में स्त्री और शूद्रों के धर्म की व्यवस्था भी लिख दी है। किन्तु फिर भी मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरी आत्मा सन्तुष्ट नहीं हुई है। दिल गवाही दे रहा है कि अभी मुझे कोई सर्व कार्य और भी करना बाकी है। भगवान्, आप पर मेरी बड़ी श्रद्धा है। आपको मैं एक भगवान् का परमानुग्रह

सम्पन्न भक्त समझता हूँ। मुझे विश्वास है कि मेरी हृदय ग्रन्थी को आप ही खोलेंगे। क्या मुझे आप रहस्य को समझावेंगे? देवर्षि विप्रर्षि के हाथ को अपने हाथ में लेते हुए प्रीति पूर्वक बोले– ''ब्रह्मन्, मैं आपके असन्तोष के कारण को जानता हूँ सच कहूँ तो कह सकता हूं कि मैं आप के पास भी उसी के लिये आया भी हूँ। मेरी समझ में तो यह है कि आप ने इतना परिश्रम किया वह भी व्यर्थ गया। मनुष्य तो स्वभाव से ही कर्म में प्रवृत्ति करने वाला है आप ने इसी को और उत्तेजन देकर उसे और भी प्रवृत्ति शील बना दिया। अब, जिस प्रकार तूफान के थपेड़ों से नाव इधर से उधर और उधर से इधर भटका करती है उसी प्रकार जीव की भी दशा होगी। उसे विश्राम स्थान तो कहीं मिलेगा ही नहीं ! मैं क्या कहूं–आप स्वयं बुद्धिमान् हैं मेरा तो पुनः कहना यही है कि आप ने अभी तक भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र, धर्म और उन की भक्ति अच्छी प्रकार से वर्णित नहीं किये हैं और इसी से आप की आत्मा असम्पन्न है। यह आप ठीक समझिये कि आप विविध कोमलकान्त पदावली से सैंकड़ों उत्तमोत्तम ग्रन्थ बना लें किन्तु जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण का यश वर्णित न होगा वह काकतीर्थ है और उस में वायसों के सिवाय और कोई आकर नहीं नहायेगा और इस तरफ आप विश्वास रखिये कि चाहे टूटी फूटी और असंबद्ध भाषा में ही यदि श्रीकृष्ण कीर्तन कीये जायेगें तो वही अत्यन्त जन को मुग्ध करने वाले हो जायेगे! मेरा तो पुनः पुनः कहना यही है कि आप भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्रों का वर्णन कीजिये, उनकी भक्ति का उपदेश दीजिये और उनकी मनोमोहक लीलाओं का वर्णन कर जाइये आप की आत्मा प्रसन्न हो जायेगी और प्रसन्न भी ऐसी होगी कि कभी आप को खेद होगा ही नहीं। आप स्वयं विद्वान् हैं, इस के उपरान्त आप तो भगवान् श्रीकृष्ण के ज्ञान कलावतार ही हैं। आप को मैं क्या कहूं? आप इस बात को एक बार पुनः सोचिये। समाधि के द्वारा आप को अपने कर्तव्य का बोध होगा और आप अपनी आत्मा को सम्पन्न बनाने का उपाय ढूंढ लेंगे। मुझे आप अब आज्ञा दीजिये।'

नारदजी के चले जाने पर भगवान् व्यासजी ने अपनी समाधि में इस श्रीमद्भागवतशास्त्रका अनुभव किया और इसीसे इसे ''समाधिभाषा'' कहते हैं।

श्रीमद्भागवत भगवान् का ही स्वरूप है। वेदों के अर्थ को व्यक्त करने वाला, शास्त्रों के सन्देहों का वारक, भगवान् की लीलाओं का वर्णन करने वाला और भगवान् में दृढ आसक्ति उत्पन्न करने वाला यह ग्रन्थरत्न है।

श्रुति मे लिखा है कि 'भगवान् द्वादश अंग वाले हैं।' यहां भी बारह स्कंध हैं। इनकी समझयों है–

अंग के नाम	स्कंध	लीला श्रवर्णांग
दो चरण	१–२	अधिकार और ज्ञान
दो बाहू	३–४	सर्ग और विसर्ग
दोनों जंघा	५–६	स्थान और पोषण
दक्षिण हस्त	७	ऊति
दोनों स्तन	८–९	मन्वन्तर, ईशानुकथा
हृदय	१०	निरोध
शिर	११	मुक्ति
वामहस्त	१२	आश्रय

श्रीमद्भागवत में तीन भाषा हैं–लोकभाषा, परमतभाषा और समाधिभाषा।

समाधिभाषा– श्रीवेदव्यासजी ने अपनी समाधि में जो कुछ भी अनुभव करके कहा उसे समाधि भाषा कहते हैं। समाधि में योग के बल से और एकान्तचित्त से व्यासजी को भगवान् का साक्षात्कार हुआ था अत एव उस समय के व्याख्यान को प्रबल प्रामाण्य माना जाता है।

परमतभाषा–जिस कथानक में समाधि भाषा से विभिन्न अर्थ हो वह परमत भाषा है। श्रीशुकदेव जी ने जहां कहीं दूसरे के कहे हुए का अनुवाद किया है वह परमत भाषा है यह जान लेना चाहिये।

लौकिक भाषा– लौकिक बातों का अनुसरण कर जहां कुछ कहा जाय वह लौकिक भाषा है।

यह ठीक है कि व्यासजी ने समग्र भागवत का समाधि में अनुभव किया था और समग्र भागवत प्रमाण है किन्तु समाधि में भी आप को पांच प्रकार का (पुरुषोत्तम–माया–भक्तिजीव–अनर्थोपशम) अनुभव हुआ था इस लिये इन का अनुसरण करने वाली भाषा समाधिभाषा मानी गई है। वास्तव में देखा जाय ता

परमत भाषा और लौकिकी भाषा, समाधि भाषा को सहायता देती हो तो प्रमाण मानी गई हैं।

हम अन्यत्र कह आये कि भागवत सर्व सन्देह वारक है। वेदों का सन्देह व्याससूत्र से दूर होता है। यदि वहां भी कुछ आशंका रहे तो श्रीमद्भागद्गीतोपनिषत् दूर करेगा और यदि फिर भी सन्देह का निराकरण न हो तो श्रीमद्भागवत सब सन्देह को दूर कर देगा। हमारे सम्प्रदाय के अनुयायिओं का कर्तव्य है कि वे श्रीमद्भागवत पर दृढ श्रद्धा रक्खें। उसे भगवान् का ही स्वरूप समझें और उसका पाठ एवं श्रवण यथा सम्भव नित्य करते रहें। श्रीमद्भागवत के श्रवण और पठन से भगवान् हृदय में विराजते हैं, दंभ तथा वासना दूर होतीं है और भगवान् में आसक्ति बढ़ती जाती है।

श्रीमद्भागवत का, शास्त्र, स्कन्ध, प्रकरण, अध्याय, वाक्य, पद, और अक्षर इन सात प्रकार से विवरण किया गया है। उन सात में से प्रथम चार का अर्थ श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित भागवतार्थ प्रकरण निबन्ध में है और द्वितीयोक्त तीनों का वर्णन श्रीमद्भागवत की आचार्य निर्मित टीका श्रीसुबोधिनीजी में है। श्रीसुबोधिनीजी को भी समझाने के लिये आप के वंशज आचार्यों ने टिप्पणी, प्रकाश, लेख, योजना इत्यादि साहित्य निर्मित किये हैं।

श्रीकृष्ण के शुद्ध स्वरूप का बोधक यही एक मात्र ग्रन्थ है। इस में ज्ञानी से ज्ञानी भी वैसे हि समान रूप से आनन्द पा सकता है जैसा एक अज्ञानी और मूर्ख। स्त्री और बालक जब दशमस्कन्ध की निरोध लीलाओं में आनन्द लेते हैं तब ज्ञानी और पण्डित एकादश, पंचम और द्वादश स्कन्धों के अद्भुत वेदान्त विषयक विचारों को सुनकर भगवत्स्वरूप भागवत में तल्लीन हो जाते हैं। श्रीमहाप्रभुजी ने आज्ञा की है–'सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्। यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम' अर्थात् जिसकी सेवा और कथा में दृढ आसक्ति रहती है उसका जीवनभर कभी नाश नहीं होता।

श्रीमद्भागवत वेदोपब्रंह्मक (वेदों के अर्थ को बताने वाली) है। ब्रह्मसूत्र से जिस प्रकार 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र से प्रारम्भ हुआ है उसी प्रकार श्रीमद्भागवत का प्रारम्भ भी जन्माद्यस्य यतः' इस वाक्य से हुआ है। वेद का बीज गायत्री है। इसलिये श्रीमद्भागवतकाभी प्रारम्भ गायत्र्यर्थ से किया गया है।

श्रीमद्भागवत के तीन स्वरूप हैं अध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधि दैविक। आधिभौतिक स्वरूप अक्षरात्मक पुराण है। आध्यात्मिक–भागवत भक्ति शास्त्र है। इस प्रकार माहात्म्यपूर्वक सेवन करने वाले को भक्ति रुप फल देने वाली है। आधिदैविक स्वरुप द्वादशांगात्मक परब्रह्म परात्पर भगवान् पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र है।

श्रीमद्भागवत में द्वादश स्कन्ध हैं, तीयालीस प्रकरण हैं, तीन सा बत्तीस अध्याय हैं। (दशमस्कन्ध के १३–१४–१५ तीन अध्याय प्रक्षिप्त माने गये हैं उनको भी गिनने से ३३५ अध्याय होते हैं) इसमें १८००० श्लोक हैं और तीन इसमें भाषा हैं।

प्रथम स्कंध में श्रोता वक्ता के अधिकार का निरूपण है। इसमें १६ अध्याय और ३ प्रकरण हैं जिसमें पहले प्रकरण में तीन अध्याय द्वारा हीनाधिकार का वर्णन है। दूसरे प्रकरण के तीन अध्याय में मध्यमाधिकार निरूपण है। तीसरे प्रकरण के तेरह अध्यायो में उत्तमाधिकार का वर्णन किया गया है।

द्वितीय स्कन्ध में ज्ञानलीला वर्णित की गई है। इसमें दस अध्याय हैं और तीन प्रकरण हैं। पहले दो अध्याय के एक प्रकरण से तत्वज्ञान का निरूपण है, दूसरा प्रकरण दो अध्याय का है जिसमें हृदय की प्रसन्नता का वर्णन है और तृतीय प्रकरण मनन प्रकरण है जो छः अध्याय से कहा गया है।

तृतीय स्कन्ध में भगवान् की सर्गलीला का वर्णन है। उसके ३३ अध्याय और ६ प्रकरण हैं। पहला अधिकार प्रकरण चार अध्याय से, दूसरा गुणातीत प्रकरण दो अध्याय से, तीसरा सगुण प्रकरण तीन जीव अध्याय से, चौथा कालप्रकरण दो अध्याय से, पंचम जीव प्रकरण नौ अध्याय से और छठा तत्व प्रकरण तेरह अध्याय से वर्णित है।

चतुर्थ स्कन्ध में विसर्गलीला का वर्णन होता है। उसके अध्याय ३१ और प्रकरण चार हैं। प्रथम धर्म प्रकरण सात अध्याय में, दूसरा अर्थ प्रकरण पांच अध्याय में, तीसरा काम प्रकरण ग्यारह अध्याय में और चतुर्थ मोक्ष प्रकरण आठ अध्याय में वर्णित किया गया है।

पंचम स्कन्ध में स्थानलीला का वर्णन है। उसके अध्याय २६ और प्रकरण तीन हैं। प्रथम देश प्रकरण तीन अध्याय में, दूसरा काल प्रकरण इक्कीस अध्याय स्वप्न प्रकरण दो अध्याय में कहा गया है।

षष्ठ स्कन्ध में पोषण (पुष्टि, अनुग्रह) लीला का वर्णन है। इसके अध्याय १६ और प्रकरण ३ हैं। प्रथम नाम प्रकरण ३ अध्याय से, दूसरा ध्यान प्रकरण १४ अध्याय से और तृतीय अर्चन प्रकरण दो अध्यायों से कहा गया है।

सप्तम स्कन्ध में ऊति (वासना) का वर्णन किया है। इसमें १५ अध्याय और तीन प्रकरण हैं। पहला असद्वासना प्रकरण पांच अध्याय से, दूसरा सद्वासना प्रकरण भी पांच अध्याय से और तीसरा सद्सद्वासना प्रकरण पांच अध्यास से वर्णित है।

अष्टम स्कंध में मन्वन्तर लीला का वर्णन है। इसके अध्याय २४ और प्रकरण चार हैं। पहला तामस प्रकरण चार अध्याय से, दूसरा सात्विक प्रकरण दस अध्याय से, तीसरा राजस् प्रकरण नव अध्याय द्वारा और चौथा भक्ति प्रकरण एक अध्याय द्वारा वर्णित है।

नवम स्कन्ध में ईशानुकथा का वर्णन है। इसमें अध्याय चौबीस और प्रकरण दो हैं। पहला सूर्य वंश निरूपण बारह अध्याय में और दूसरा चन्द्रवंश निरूपण बारह अध्याय में किया गया है।

दशमस्कन्ध, स्वरुपात्मक श्रीमद्भागवत का हृदय है। मनुष्य शरीर में जिस प्रकार हृदय अत्यन्त उत्तम और प्रधान चीज मानी गई है उसी प्रकार भागवत का दशमस्कन्ध है। इस स्कन्ध में निरोध का वर्णन है। निरोध का अर्थ है प्रपंचविस्मृति पूर्वक भगवदासक्ति। दशमस्कन्ध पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में विभक्त है। पूर्वार्ध में प्रक्षिप्त तीन अध्याय सहित ४६ अध्याय हैं और उत्तरार्ध में ४१ अध्याय हैं। दशमस्कंध में पांच प्रकरण हैं। ढाई उत्तरार्ध और ढाई पूर्वार्ध में। पूर्वार्ध में प्रथम चार अध्याय का जन्म प्रकरण, अट्ठाईस अध्याय का तामस प्रकरण, २८ अध्यायका राजस् प्रकरण है (इसके चौदह पूर्वार्ध में और चौदह अध्याय उत्तरार्ध में हैं।) अब उत्तरार्ध में राजस् प्रकरण के अवशिष्ट चौदह अध्याय, सात्त्विक प्रकरण के २१ और ऐश्वर्य प्रकरण के ६ अध्याय, हैं। पूर्वार्ध के तामस प्रकरण के भी चार प्रकरण हैं। पहले प्रमाण प्रकरण के सात अध्याय, दूसरे प्रमेय प्रकरणके ७, तीसरे साधन प्रकरण के भी ७ और चौथे फल प्रकरण के भी ७। इस प्रकरण में रास पंचाध्यायी और युगलगीत का वर्णन होता है। यह फलरूप होने से फल प्रकरण में आये हैं सो ठीक ही है।

तीसरा राजस् प्रकरण अर्थात् राजस् भक्तों का निरोध है। इसके २८ अध्याय हैं और इसके भी चार प्रकरण हैं। पहले और दूसरे प्रमाण और प्रमेय प्रकरण पूर्वार्ध में हैं और सात २ अध्याय के दूसरे दो प्रकरण साधन और फल उत्तराध ा में हैं। चौथा सात्विक प्रकरण है अर्थात् इसमें भगवान् ने सात्विक भक्तों का निरोध किया है। इस के अध्याय २१ और प्रकरण ३ हैं। सात्विक भक्तों को प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती इससे प्रमेय साधन और फल यह सात २ अध्याय से वर्णित हैं। पांचवां ऐश्वर्य प्रकरण ६ अध्याय से वर्णित है। इसमें भगवान् के ऐश्वर्य, वीर्य, श्री, यश, ज्ञान और वैराग्य इन छःओं का निरूपण है।

एकादश स्कन्ध में मुक्ति का वर्णन है। इसमें ३१ अध्याय और दो प्रकरण हैं। प्रथम जीवमुक्ति प्रकरण २९ अध्याय से और दूसरा ब्रह्ममुक्ति प्रकरण दो अध्याय से वर्णित है।

द्वादश स्कन्ध में आश्रय का वर्णन है। इसमें तेरह अध्याय और पांच प्रकरण हैं। पहला लोकाश्रय दो अध्यायका, वेदाश्रय दो का, भगवदाश्रय तीनका, शब्दाश्रय तीनका और अर्थाश्रय तीन अध्याय का कहा गया है।
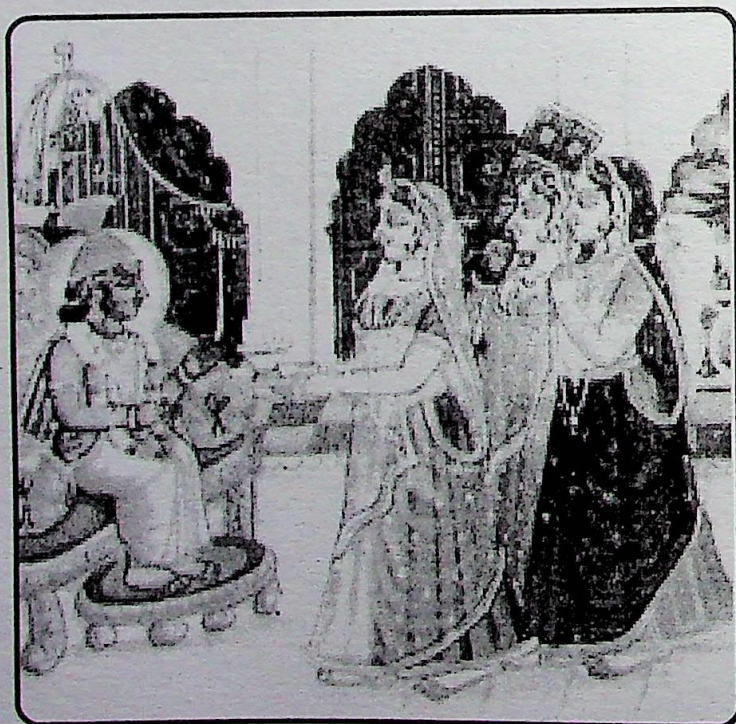
श्रीनाथजी

प्रभु तुम्हें बार-बार प्रणाम

मिटत मायाजाल सेवक छूटत विषय विकार -प्रभु तु.
गर्व करि ज्ञानी गये थकि मुक्ति ढूंढन हार
भक्त इक तव शरण ले तर जात यह संसार -प्रभु तु.

-व्रज

श्रीनाथजी

शुद्धाद्वैत वैष्णव भक्तों के लिये परमपूज्य और परम माननीय स्वरूप श्रीनाथजी का है। पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र ही आप स्वयं, श्रीनाथजी के स्वरूप में भूतल पर विराजते हैं। आपका वर्तमान विराजमान स्वरूप उस समय का है जिस समय आपने इन्द्र के अत्याचार से श्रीव्रजभक्तों को बचाने के लिये श्रीगोवर्धन गिरिराज को सात दिन पर्यन्त धारण किया था।

आपका प्राकट्य रहस्य भी अद्भुत है। व्रजमण्डल के श्रीगिरिराजधरण की एक कन्दरा में से आपकी ऊर्ध्वभुजा का प्राकट्य संवत् १४६६ श्रावणवदी तृतीया को सूर्योदय के समय श्रवण नक्षत्र में हुआ था। व्रजवासियों को भुजा के दर्शन उसी संवत् की नागपंचमी को हुआ था।

गिरिराजधरण की कन्दरा से एकाएक भुजा का दर्शन कर व्रजवासी मण्डल अत्यन्त आश्चर्यान्वित हुआ। किन्तु उनके आश्चर्य को घटाते हुए वहां ही एक वृद्ध व्रजवासी बोला 'भाइयो, यह भुजा उस समय की है जब इन्द्रने कोप करके व्रजके ऊपर सात दिन तक मेघ की मूसलाधार वृष्टि की थी और जिसके प्रतीकार स्वरूप सात वर्ष के सांवले श्रीकृष्ण ने सात दिन पर्यन्त अपनी कनिष्ठिका पर गिरिराज धारण कर व्रजभक्तों की रक्षा की थी। यह वही भुजा है। आप स्वयं इस समय श्रीगिरिराज की कन्दरा में विराजमान हैं। इस समय हमें केवल भुजाका ही दर्शन दिया है। आपकी इच्छा होने पर मुखारविन्द का दर्शन भी हम कर सकेंगे'। वृद्ध की यह बात सुनकर व्रजवासी प्रसन्न हुए तथा भुजा के प्राकट्य से अपना परम सौभाग्य उदय हुआ मानकर भुजा की षोडशोपचार पूजा करने लगे। इतना ही नहीं, नागपंचमी को वे एक विशेष सौभाग्य का दिन मानने लगे और उस दिन प्रत्येक वर्ष में वहां एक बड़ा भारी मेला लगने लगा।

इस घटना के ६६ वर्ष अनन्तर अर्थात् संवत् १५३५ में आपने अपने मुखारविन्द के दर्शन व्रजभक्तों को कराये। श्रीमहाप्रभुजी भी इसी दिन भूतल पर पधारे थे।

उस समय व्रजमण्डल में प्रधानतः गौओं का निवास था। एक एक घर में हजार २ गाय रहती थीं। सद्दू पांड़े नामक एक ब्राह्मण के यहां भी एक हजार गायें बंधती थी। उन एक हजार गायों में से एक गाय श्रीनन्दरायजी के गौओं के कुल की थी जिसका नाम धूसर था। वह प्रतिदिन सायंकाल के समय घर आते २ अपने झुंड में से अलग होकर श्रीनाथजी जहां बिराजते थे उस जगह जा कर अपना पय (दूध) श्रीनाथजी के मुखारविन्द में स्रवण करती। उस दूध को भगवान् अरोगते। छः मास पर्यन्त यह कथा किसी को भी ज्ञात न हुई। एक समय जब इस गाय के अल्प दुग्ध दान पर सन्देह हुआ तब सद्दू पांड़े स्वयं इसकी टोह (खबर) लेने के लिये एक दिन गाय के पीछे पीछे गया।

वहां जाकर उसने देखा कि उसकी धूसर गाय भगवान् को दुग्ध पान करा रही है। भक्त भगवान् के इस अपूर्व चरित्र को देख कर मुग्ध हो गया। अपने को परग सौभाग्यवान् मान भगवान् के चरणाविन्द में गिर पड़ा।

भगवान् प्रसन्न होकर बोले–"गिरिराज गोवर्धन मेरो ही स्वरूप और मोकूं अत्यन्त प्रिय हैं मैं यहां सर्वदा क्रीड़ा करूं हूं। या समय श्रीमहाप्रभुजी भूतल पै पधारे हैं अतः मैं भी उनकूं अपनी सेवा को दान करवे प्रत्यक्ष भयो हूं। मेरो नाम देवदमन है। लीलान्तर सूं इन्द्रदमन और नागदमन भी मेरो ही नाम है। इन्द्र को गर्व खर्व करके ताको दमन कियो तासूं मैं इन्द्र दमन हूं। कालिन्दीकूं निर्विष करवे के ताईं नाग को दमन कियो तासूं नागदमन भी मैं ही हूं। कंस, केशी, कुवलयापीड इत्यादि दुष्टन को दमन भी मैने कियो है तासूं जन साधारण मोकूं दुष्टदमन भी कहें हैं। समय समय पे मैंने इन्द्र, कुबेर, चन्द्रमा, वायु, वरुण, मृत्यु, यम, अग्नि, ब्रह्मा, शिव और काम इत्यादि देवन को भी मैंने दमन किया है यासूं देवदमन भी में ही हूं। मैं व्रजभक्तनकूं सदैव प्रिय हूँ अतएव तेरी गाय मोकूं दूध प्यायो करेगी। मोकूं यह गौ अत्यन्त प्रिय है"।

श्रीनाथजी
की श्रीमहाप्रभु को झारखण्ड में आज्ञा

श्रीनाथजी के मुखारविन्द से यह साक्षात् आज्ञा सुनकर व्रजवासी अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उस दिन से उस भाग्यवान् व्रजवासी की गाय श्रीनाथजी को दुग्धपान कराने लगी। आपने जिस समय प्राकट्य ग्रहण किया उसी समय आपकी रक्षार्थ चार व्यूह भी प्रकट हुए थे।

श्रीगिरिराजधरण के संकर्षण कुंड में से श्री संकर्षण देव का गोविन्द कुण्ड में से श्रीगोविन्द देव का, दानघाटी पर श्रीदानीरायजी का एवं श्रीकुण्ड में से श्रीहरिदेवजी का प्राकट्य हुआ था। ये चारों देव क्रमशः संकषर्ण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरूद्धात्मक हैं। ये सर्वदा श्रीनाथजी के साथ रक्षार्थ बिराजते हैं। इन व्यूहों की सेवा मतान्तर के भक्त लोग भी करते हैं। मुख्य स्वरूप श्रीनाथजी का है। आपकी सेवा के लिये ही श्रीमहाप्रभुजी झारखण्ड से यहां पधारे थे।

संवत् १५४९ फाल्गुन सुदी ११ को आचार्य चरण श्रीवल्लभाचार्य को झारखण्ड में श्रीनाथजी की यह आज्ञा हुई।

"मैं श्रीगोवर्धन गिरिराज में सूं गोवर्धनधर स्वरूप में प्रकट भयो हूं। यहां मैं अपनी सेवा के लिये तुम्हारी प्रतीक्षा कर रह्यो हूँ। तुम यहां आओ, और व्रजवासीन कूं अपनी शरण में लेके मेरी सेवा के अधिकारी बनाओ"।

जिस समय श्रीनाथजी की यह आज्ञा आप पर प्रकाशित हुई उस समय श्रीमद्वल्लभाचार्यजी पृथ्वी प्रदक्षिणा कर ब्रह्मवाद का उपदेश कर रहे थे। किन्तु इस आज्ञा से आपको अत्यन्त हर्ष हुआ और परिक्रमा का कार्य उसी समय स्थगित रख आप व्रजभूमि में पधारे।

श्रीमहाप्रभुजी अपने सेवकों के सहित श्रीनाथजी के दर्शन करने के लिये श्रीगिरिराज पर पधारे। श्रीनाथजी भी अपने भक्त को दूर से ही आते देख, स्वयं उनसे कुछ दूर आकर गले मिले!

बिना सेवा के पुष्टिमार्ग में जीव का अंगीकार नहीं हो सकता यह कहकर श्रीनाथजी ने श्रीमहाप्रभु से कहा 'आप मोकूं पाठ बैठाओ और मेरी सेवा को प्रकार प्रकट करो।'

श्रीजी की आज्ञानुसार महाप्रभुजी ने आप के लिये एक नवीन मन्दिर का निर्माण करा दिया एवं उस दिन से आपने पुष्टिमार्गीय सेवा पद्धति का प्रकाशन किया।

इस कार्य में समय बहुत सा लग गया। अभी महाप्रभु की पृथ्वी परिक्रमा अवशिष्ट थी। एक दिन आपने अपने श्रीहस्ते से श्रीजी को सखडी भोग धर अन्न प्राशन करवाया, और श्रीजी से अपना कार्य सिद्ध करने के लिये आज्ञा मांगी। आज्ञा मिल जाने पर व्रजजनों को सावधान कर श्रीमहा प्रभु पृथ्वी परिभ्रमण के लिये चल दिये।

कालान्तर में श्रीजी को अपने लिये एक बडा मन्दिर बनवाने की इच्छा हुई। तदनुसार आपने अंबाला के पूर्णमल्ल क्षत्रिय को इसके लिये स्वप्न में आज्ञा की। इस आज्ञा को अपना परम सौभाग्य मान पूर्णमल्ल दौडा हुआ व्रज आया और परम उत्साह से श्रीजी के लिये मन्दिर बनवा दिया ।

मन्दिर का निर्माण हो गया उस समय श्रीमहाप्रभु भी अपना पृथ्वी परिक्रमा का कार्य पूर्ण कर व्रज आगये थे। आप श्रीने बडे समारोह से श्रीजी को संवत् १५७६ वैशाख सुदी ३ अक्षय तृतीया को नवीन निर्मित मन्दिर में पाट बिठाया।

श्रीमहाप्रभु के स्वधाम पधारने के अनन्तर जब श्रीगुसांईजी गद्दी पर बिराजे तब आपने पुष्टिमार्गीय सेवा पद्धति विस्तार से प्रचलित की।

एक समय जब श्रीगुसांईजी के प्रथम पुत्र गिरिधरजी से कहा कि 'मैं तो आज तुम्हारे घर मथुरा में चलूंगो। तुम मोकूं वहां ले चलो'। श्रीनाथजी की आज्ञा सुनकर गिरिधरजी रथ सिद्ध करालाये। श्रीगोवर्धननाथजी भी रथ में विराजे। श्रीगिरिधरजी स्वयं रथ के चालक बन अपने घर सतघरा मथुरा में ले आये। वहां संवत् १६२३ फाल्गुन वदी ७ गुरुवार के दिन श्रीनाथजी को पाट पधराये। इस पाटोत्सव को आजतक सातों घर मान्य करते हैं। यह स्थान आजकल सतघरा में श्रीनाथजी की बैठक के नाम से प्रसिद्ध है। जिस दिन श्रीनाथजी मथुरा के सतघरा में पधारे उस दिन श्रीगिरिधरजी ने अपना सर्वस्व श्रीनाथजी को अर्पण कर दिया और आप एक मात्र छोटी धोती पहन कर स्त्री वर्ग सहित हाथ जोड़कर घर के बाहर निकल कर खड़े हो गये।

वहां श्रीगुसांईजी को जब यह बात विदित हुई तो आप शीघ्रता से श्रीजी के दर्शनार्थ चल दिये। इनके आगमन का वृत्त जान श्रीजी श्रीगिरिधरजी से बोले ''गिरिधर, श्रीगुसांईजी यदि मोकूं श्रीगिरिराज पै नहीं देखेंगे तो बडो सोच करेंगे। तासूं तू मोकूं आज़ को आज गिरिराज पै पहुंचा दे।''

तब आप गोपीवल्लभ अरोग कर रथ में विराजे। उस दिन नृसिंह चतुर्दशी थी सो सब उत्सव श्रीगिरिराज पर पधारकर आपने पूर्ण किये। राजभोग और शयन भोग उस दिन अगत्या (एकसाथ) इकट्ठे करने पडे। उस दिन से राजभोग और शयन भोग नृसिंह चतुर्दशी को इकट्ठे आने लगे।

एक़ समय श्रीगुसांईजी द्वारका पधारे। बीच में मेवाड प्रान्त स्थित सिंहाड (वर्तमान् नाथद्वार) नामक स्थल अत्यन्त मनोहर देख कर आपने वहां कुछ दिनों तक विश्राम किया। एक दिन आपने अपने अनन्य सेवक चाचा हरिवंश से कहा– 'यह स्थल अत्यन्त मनोहर है। श्रीजी के निवास के सर्वथा योग्य है। यहां पर एक दिन श्रीजी अवश्य पधारेंगे और इसे चिरकाल तक अपना निवास स्थल बनावेंगे।'

उस समय मेवाड़ में राणा उदयसिंह राज्य करते थे। श्रीगुसांईजी का आगमन सुन कर वे स्वयं अपने परिवार सहित श्रीगुसांईजी के दर्शन को आये। राणा ने आपके चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम कर गांव तथा मोहर अर्पण कीं। श्रीगुसांईजी ने भी प्रसन्न हो राणा को अपना प्रसादी वस्त्र से सुशोभित किया। जब गुसांईजी द्वारका पधारने लगे तब महाराणा आपके वियोग का अनुमान कर बड़े दुःखी हुए। तब श्रीगुसांईजी ने उनसे कहा–'मेरा तो यहां रहना होगा नहीं, हां श्रीजी तुमको नित्य दर्शन देंगे।'

उस दिन से श्रीजी प्रतिदिन श्रीगिरिराज से मेवाड में नाथद्वार–पधारकर महाराणा को दर्शन देते। एक दिन राणा ने श्रीजी के श्रम का अनुभव कर कहा 'प्रभो, आपको इतनी दूर प्रतिदिन परिश्रम करना पड़ता है इसलिये यदि आप इस मेवाड़ में ही विराजें तो मुझे आपका क्षणिक वियोग भी न हो यह सुनकर श्रीजी बोले तुम्हारो कहनो ठीक है। पन जब तक श्रीगुसांईजी भूतल पै बिराजे हैं तब तक मेरो अन्यत्र निवास करनो असम्भव है। अनन्तर मैं यहां ही चिरकाल तक रहूंगो।'

कालान्तर में अपनी प्रतिज्ञा को चरितार्थ करने के लिये श्रीजी ने एक उपाय सोच निकाला! उन दिनों प्रसिद्ध हिन्दूधर्म द्रोही मुसलमान नरेश औरंगजेब दिल्ली में एक छत्र राज्य करता था। श्रीजी ने सोचा यों राजी खुशी तो श्रीगुसांईजी के वंशज मुझे यहां से श्रीनाथद्वारा ले नहीं चलेंगे इसलिये मुसलमानों द्वारा यहां उत्पीड़न उत्पन्न कराना चाहिये। यह सोचकर श्रीजी ने मुसलमान नरेश के हृदय में यह भावना उत्पन्न की।

फलतः जब गिरिराज यवनाक्रान्त हुआ तब आप मेवाड़ में श्रीनाथद्वार में आकर बिराजे। तब से आज तक उसी भूमि में बिराजमान हैं।

अब हम यहां श्रीनाथजी के स्वरूप के विषय में कुछ प्रमाण उद्धृत करते हैं।

गोपालतापिनीयोपनिषद् के पूर्वखण्ड में लिखा है–

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।
द्विभुजंमौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्।।
गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम्।
दिव्यालंकरणोपेतं रत्नपंकजमध्यमम्।।
कालिंदीजलकल्लोलसंगीमारुतसेवितम्।
चित्ते यः संश्रयेत् कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः।।

अर्थात्– अच्छे पुण्डरीक नयनों की सी शोभा वाले, सुन्दर मेघ की सी कान्तियुक्त, दो सुन्दर भुजा वाले, शान्त विग्रह वाले भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप का जो ध्यान करता है वह मुक्त होता है।

जो मनुष्य गोप, गोपी और गौ के मध्यवर्ती, कदम्बतलाश्रित अनेक रत्नों से सुशोभित भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान करते हैं वे परम पद को प्राप्त होते हैं।

श्रीमद्भागवत में श्रीनाथजी के विषय में कहा है–

गोपैर्मखे प्रतिहते व्रजविप्लवाय
देवेभिवर्षति पशून्कृपया रिरक्षुः।
धर्तोच्छिलीन्ध्रमिव सप्त दिनानि–
सप्त वर्षो महीध्रमनधैककरेणलीलम्।।

अर्थात्– गोपो ने जिस समय इन्द्र को यज्ञ देना बन्द कर दिया उस समय इन्द्र ने कुपित हो व्रज को बहा देने के लिये व्रज पर घोर वर्षा की थी। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने, सात वर्ष के सांवले ने सात दिन पर्यन्त अपनी एक उंगुली पर श्रीगिरिराज को धारण कर व्रज जनों की रक्षा की थी। उस समय का स्वरूप ही इस समय श्रीनाथजी के स्वरूप में बिराजमान है।

मन्त्र भागवत में लिखा है–

तामस्य रीतिं परशोरिव प्रत्यनीकमख्यं भुजे अस्य वर्यसः ।
सचायदि पितुमंत मिव क्षयं रत्नं दधाति भरहूतये विशे ।।

श्रीमंत्रभागवतम्। द्वितीयं वृन्दावनकाण्डम्।
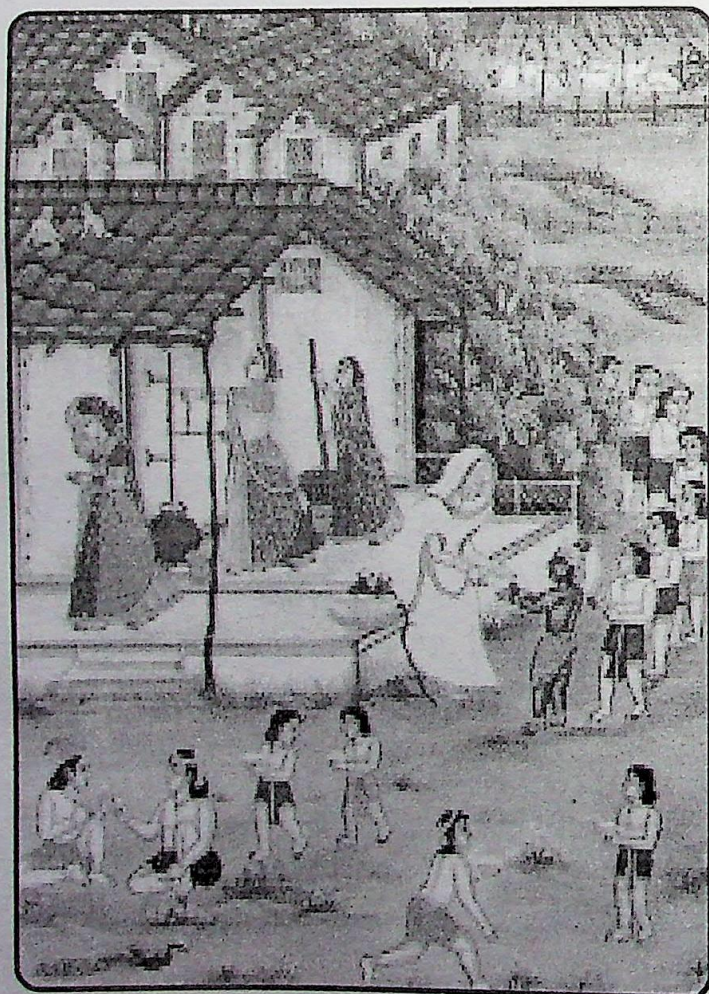
भाष्यम्

तामस्येति। तां महता वर्षेण व्रजो नाशनीय इत्येवं रूपां, परशोः इव अस्य इन्द्रस्य रीतिं वर्षा क्रियां तत्प्रकारं वा, आलोच्य अस्य इन्द्रस्य प्रत्यनीकं भागहरत्वात् शत्रुमिव रत्नं क्षयं रत्नगृहं गोवर्धनमित्यर्थः, अस्य सप्तवार्षिकस्य श्रीकृष्णस्य वर्यसः सर्व हितकर्तुः भुजे वाम हस्ते अख्यं अपश्याम। सचा गोपवृन्दवयस्यैः।

नारदपंचरात्र में लिखा है–

दामोदरो गोपदेवो यशोदानन्दकारकः।
कालीयमर्दनः खर्वगोपीजनप्रियः ।।१४३।।

लीलागोवर्धनधरो गोविन्दो गोकुलोत्सवः।
अरिष्टमथनः कामोन्मत्तगोपीविभुक्तिदः।।१४४।।

इसका अर्थ स्पष्ट है। इसके आगे रात्रि ४ अध्याय ८ में लिखा है–

पर्वताधिनिवासी च गोवर्धनधरो गुरुः।।२४।।
गोवर्धनपतिः शान्तो गोवर्धनविहारकः ।
गोवर्धनो गीतगतिवार्गक्षो गोवृषेक्षणः।।२५।।
इन्द्रयज्ञहरो गोवर्धनधारी गिरांपतिः।
यज्ञभुग्यज्ञकारी च हितकारी हितांतकः।।६०।।
गिरिरुपी गिरिमखो गिरियज्ञप्रवर्तकः ।
गिरेरंगधरो गोपगोपीगोतापनाशनः ।।६४।।
भक्तिप्रियो भक्तिदाता दामोदर इडस्पतिः।
इन्द्रदर्पहरोऽनन्तो नित्यानन्दान्विदात्मकः।।१६।।
द्विभुजः षड्भुजोऽनन्तभुजो मातलिसारथिः।
शेषः शेषाधिनाथश्च शेषी शेषान्तविग्रहः।।१२८।।

ब्रह्मपुराण में लिखा है–

ततस्तग्दोकुलं सर्वं गोपीगोपसंकुलम्।
अतीवार्तं हरिर्दृष्ट्वा त्राणायाचिन्तयत्तदा।।११।।

एतत्कृतं महेन्द्रेण महभङ्गविरोधिना ।
तदेतखिलं गोष्ठं त्रातव्यमधुना मया ।।१२।।
इममद्रिमहं वीर्यादुत्पाट्योरुशिलातलम् ।
धारयिष्यामि गोष्ठस्य पृथुछत्रमिवोपरि ।।१३।।
इति कृत्वा मति कृष्णो गोवर्धनमहीधरम् ।
उत्पास्यैककरेणैव धारयामासलीलया।।१४।।
गोपांश्चाह जगन्नाथः समुत्पाटितभूधरः।
विशध्वमत्र सहिताः कृतं वर्षानिवारणम्।।१५।।
सुनिर्वातेषु देशेषु यथायोग्यमिहास्यताम्।
प्रविश्यनात्र भेतव्यं गिरिपातस्य निर्भयैः ।।१६।।
इत्युक्तास्तेन ते गोपा विविशुर्गोधनैः सह– इत्यादि।

शुद्ध पुष्टि भक्ति

भगवान् के भक्त को शुद्ध भक्ति बडी कठिनता से प्राप्त होती है। भगवान् जिस पर कृपा करते हैं, जिसको इस योग्य समझते हैं उसी को शुद्ध पुष्टि भक्ति का दान करते हैं। अभी तक जगत में शुद्ध पुष्टि भक्ति श्रीगोपीजनों को छोड़कर और किसी को प्राप्त नहीं हुई।

कितने ही अज्ञान और अहम्मन्य वैष्णव अपने आपको शुद्ध पुष्टि भक्त मानकर शास्त्र में कही गई आज्ञाओं की अवहेलना कर अपने आप को लोक वेद से परे मानने लगते हैं यह उनकी भारी भूल है। यह ठीक है कि जिसे शुद्ध पुष्टि भक्ति प्राप्त हो जाती है वह लोक और वेद मर्यादा से बहुत कुछ मुक्त हो जाता है। किन्तु स्मरण रहे यह अवस्था बड़ी कठिनता से प्राप्त होती है। इस बात को और स्पष्ट करने के लिये हम यहां कुछ विस्तार करेंगे।

हम अन्यत्र कह आये हैं कि भगवच्छास्त्रों में स्नेह को ही भक्ति कहा गया है। यह स्नेह अथवा भक्ति सामान्य या विशेष भाव को छोड़ कर कहें तो भगवदनुग्रह से प्राप्त होने वाली वस्तु है। इस लिये इसे पुष्टि भक्ति कहते हैं। इस पुष्टि भक्ति के भी चार भेद हैं जिसका वर्णन हम अन्यत्र कर आये हैं। इन चारों में 'शुद्ध पुष्टि भक्ति' सर्वोत्तम, स्वतन्त्र, शुद्ध और अत्यन्तिकी अर्थात् फल रूपा कही गई है। यह शुद्ध पुष्टि भक्ति प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है इस लिये इसका निरूपण नहीं हो सकता। यह बात हम ही नहीं कहते श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भी यही कहा है–

'भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न शोच्यते।' अर्थात् शुद्ध और स्वतन्त्र भक्ति दुर्लभ है– अत्यन्तासक्ति साध्य और भगवत्कृपा से प्राप्य है इस लिये इसका यहां वर्णन नहीं किया जाता।

श्रीविट्ठलनाथजी महाराज ने अपने भक्ति हंस नाम के ग्रन्थ में कहा है–

स्नेहोत्पत्ति के अनन्तर अपने व्यसन से उत्पन्न जो गुणगानादि वह उत्तम पुष्टि भक्ति है।'

श्रीकृष्णचन्द्र में 'व्यसन' होना–चैन न पडना यही भक्त के लिये उत्तमोत्तम फल है। किन्तु ऐसा यह सर्वथा प्रभु के ही हाथ है। यह दशा साधनों से प्राप्त नहीं की जा सकती। यह दशा भक्त को यदि प्राप्त हो जाय तो वह कृतार्थ हो गया यह समझना चाहिये। यह समझना चाहिये कि 'व्यसन' शुद्ध पुष्टि भक्ति की ही उत्तम और अन्तिम अवस्था है। शुद्ध पुष्टि भक्ति की अवस्था श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध, २९ वें अध्याय के ११ वे श्लोक में वर्णित है। वह अवस्था यह है–

मद्‌गुण श्रुतिमात्रेण मयि सर्व गुहाशये ।
मनो गतिरविच्छिन्ना यथा गङ्.गाम्भसोऽम्बुधौ ।।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए श्रीमहाप्रभुजी ने सुबोधिनीजी में लिखा है–

''सर्वगुहाशये मयि भगवति प्रतिबन्धरहिता अविच्छिन्ना या मनोगतिः– पर्वतादि भेदनमपि कृत्वा यथा गंगाम्भः अम्बुधौ गच्छति तथा लौकिकवैदिकप्रतिबन्धान् दूरी कृत्य या भगवति मनसो गतिः।'

अर्थात्– सर्व गुहास्थित–सर्व प्राणिमात्र में निवास करने वाले समग्र षडैश्वर्य सम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण में गुणश्रवण मात्र से अविच्छिन्न और सतत मन की गति का होना यह शुद्ध पुष्टि भक्ति है। जिस प्रकार गंगा का प्रवाह पर्वतादि समर्थ विघ्नदाताओं का भी भेदन कर समुद्र में गिरता है उसी प्रकार भगवद्भक्त का लौकिक या वैदिक प्रतिबन्धों को दूर कर अपने मन का भगवान् श्रीकृष्ण में लगाना यही शुद्ध पुष्टि भक्ति है।

इस शुद्ध पुष्टि भक्ति की तीन अवस्था हो जाती हैं। वह तीन अवस्था यों होती हैं।

अन्य लौकिक पदार्थो में–स्त्री पुत्रादि को में–जब भक्ति के आधिक्य होने से प्रीति हट जाती है–इन पदार्थों की निस्सारता विदित हो जाती है और भगवान् के माहात्म्य का जब बोध हो कर वहां चित्त लगता है उसे स्नेह कहते हैं।

स्नेह के अनन्तर आसक्ति की अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था में अपने गृहादिकों पर अरुचि होने लगती है। 'प्रभु प्रेम में प्रतिबन्ध हैं' यह भाव उसका उत्तरोत्तर बढता जाता है। यह आसक्ति है।

अब तीसरी अवस्था व्यसन की आती है जब लौकिक अथवा अलौकिक समग्र पदार्थों से मन हटकर केवल प्रभु प्रेम और प्रभु का ही निरन्तर ध्यान रहे–प्रभु बिना एक क्षण के लिये भी और कोई वस्तु अच्छी न लगे वह व्यसन है। इस अवस्था में सर्वत्र प्रभु का ही आविर्भाव दीखने लगता है। सारा संसार उस भक्त के लिये प्रभुमय हो जाता है। जब भगवान् में व्यसन हो जाय तो समझ लेना चाहिये कि जीव कृतकृत्य हो गया। इसी बात को आचार्यों ने इस प्रकार कही है–

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद् गृहारुचिः।
गृहस्थानां बाधकत्वामनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ।।

इस व्यसन जैसी उत्तमोत्तम कक्षा पर पहुंच जाने पर भक्त को सर्वात्मभाव होने लगता है। इस अवस्था में वह लौकिकालौकिक कर्म से परे जाता है। लोक और वेद इस महात्मा को अपने प्रभाव में नहीं लाते। उसे तो उस समय लौकिक वैदिक कर्म का बोध भी नहीं रहता। उस समय उसकी अवस्था बहुत ही ऊंची हो जाती है। उसे प्रभु के सिवाय यहां कुछ भी नहीं दिखाई देता। जडजंगम सब प्रभुमय हो जाता है। किन्तु यह अवस्था किसी ही भाग्यवान् को प्राप्त हो सकती है। बडे २ समर्थ ऋषि मुनि, प्रल्हाद, अम्बरीष, ध्रुव इत्यादि भक्त गण भी इस भक्ति की पराकाष्ठा को पहुंच नहीं सके। इस भगवद्भक्ति के इतिहास में केवल श्रीगोपीजन ही शुद्ध पुष्टि भक्ति को प्राप्त करने में सौभाग्यशालिनी हुई थी।

देखिये, ऐसे शुद्ध पुष्टि भक्त के लिये भगवच्छास्त्र श्रीमद्भागवत में कैसा मनोहर वर्णन है। वहां लिखा है–

'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तलौकिकाः।।'

अर्थात्–उन का चित्त केवल मुझ में मिल गया था। उनके प्राण मुझ में थे–मैंही उन का प्राण था। मेरे लिये, उनने जरा भी संकोच रहित हो, लौकिक आचार विचार और मर्यादा तुच्छातितुच्छ समझ कर छोड दिये थे।

यह है प्रेम की पराकाष्ठा। ऐसे सुन्दर भाव अन्यत्र प्राप्त करना दुर्लभ है। भगवान् स्वयं ऐसे भक्तों की सुध रखते हैं। आप प्रतिज्ञा करते हैं–

'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम्'

अर्थात्–जिसने भगवान् के लिये लोक धर्म छोडद्ध दिये हैं और भगवान् में ही जो तन्मय हो गया है, भगवान् स्वयं उस की रक्षा करते हैं।

जब व्यसन की दशा में भक्त पहुंच जाता है उस समय उस की अवस्था यों हो जाती हैं–

''ता नाविदन्मय्यनुषड्.गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।

यथा समाधौ मुनयोब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे।।''

अर्थात्–उस समय भक्त भगवान् में इतना तो तन्मय और तल्लीन हो जाता है कि जिस प्रकार मुनि को समाधि में अपने शरीर का ध्यान नहीं रहता अथवा जिस प्रकार समुद्र में नदी अपने नाम और रूप सहित प्रविष्ट हो जाती है उसी प्रकार भक्त को भी अपने देहादिक का बोध नहीं रहता। उस समय तो–

'देहं च नश्वरभवस्थितमुत्थितं वा।'

'वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः।।'

उस महात्मा की अवस्था मदिरा के नशे में मत्त हुए मनुष्य जैसी हो जाती है जो अपने आप को भी भूल जाता है और अपने ही आनन्द में मस्त हो जाता है।

किन्तु स्मरण रहे यह अवस्था अत्यन्त ही दुर्लभ है। कहा गया है–

'एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभः।'

अर्थात् ऐसा पुरुष करोड़ों महात्माओं में भी दुर्लभ है। इस 'एतादृशस्तु' पर प्रकाश लिखते हुए आचार्य श्री अपने निबन्ध में लिखते हैं–

ज्ञानमिश्रो भक्तः प्रेमयुक्तस्ततोपि दुर्लभस्तत्रापि सदा प्रेमलुप्तः।

'एतादृशस्तु दुर्लभः।

तस्य भगवत्सायुज्यं भवतीति किं वक्तव्यम्।'

अर्थात्–ऐसा महात्मा पुरुष तो अत्यन्त दुर्लभ है। लोक में ज्ञान मिश्र भक्त मिलने कठिन नहीं हैं किन्तु प्रेमयुक्त ज्ञानी भक्त, लोक में मिलना दुर्लभ है। इस में भी जो सदा भगवत्प्रेम में मग्न रहता हो अर्थात् जिसने लौकिकालौकिक स प्रपंचों का परित्याग कर दिया है और जो एक मात्र भगवत्प्रेम में पागल बन गया है, जिसे भगवत्प्रेम का व्यसन लग गया है, वह तो अत्यन्त ही दुर्लभ है। ऐसे भक्त की अवस्था का वर्णन हमारी वाणी अथवा लेखिनी करने में सर्वथा असमर्थ है। इसीं लिये श्रीमद्वल्लभाचार्य ने कहा है–

'भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यते।'

ऐसी दुर्लभ भक्ति का श्रीहरिरायजी ने इस प्रकार वर्णन किया है–

लोकवेदभयाभावो यत्र भावातिरेकतः।
सर्वबाधकतास्फूर्तिः पुष्टिमार्गः स कथ्यते।।

अर्थात्–जहां भगवद्भावना अत्यन्त प्रबल हो जाने से पति पुत्रादि लोक भय और नरकादि परलोक भय नहीं रहता तथा जब यह बोध हो उठे कि 'प्रभु प्रेम काल कर्म स्वभावादि सब का बाधक है' यही शुद्ध पुष्टि भक्ति है।

भगवान् के वेणुरव से जब अपने २ गृह का परित्याग कर व्रजस्त्री भगवान् के समीप वन में पहुंची तब भगवान् ने कहा था कि 'हे व्रजसुन्दरी गण, आपका अपने गृहकार्य को परित्याग कर रात्रि के समय एकान्त में परपुरुष के पास आना योग्य नहीं है।' आप लोग वापस जाय। क्योंकि यह आपका कार्य सर्वथा अनुचित, अस्वर्ग्य, अयशस्कर और लोक में निन्दनीय हुआ है। भगवान् के वचन सुन कर व्रजस्त्री बडी क्षुब्ध हुई। किन्तु अन्त में साहस कर बोली–

''नाथ, इस प्रकार का नृशंस भाषण आपको शोभा नहीं देता। जरा हमारी तरफ देखो तो सही। हमने आप के पीछे सबका त्याग कर दिया है। लोक में बाँध रखने वाली दुर्दमनीय माया का भी हमने आपके लिये परित्याग कर दिया है। अच्छे से अच्छे विषय भोग को भी हमने उस प्रकार तज दिया है जिस प्रकार क्षीण फल वृक्ष को विहंगम वृन्द! केवल आपके चरण शरण का भरोसा रख कर हमने अपने पति, पुत्र, बन्धु पिता इत्यादि का भय भी उसी प्रकार छोड दिया है जिस प्रकार मार्कण्डेय ने शिव की शरण पाकर यम का भय छोड़ दिया था। नाथ! हम आपकी भक्त हैं। भक्त की रक्षा भगवान् नहीं करेगा तो और कौन करेगा? आपने हमें पति पुत्र इत्यादि की याद दिलाई है यह ठीक है। किन्तु नाथ! यह उन लोगों के लिये सम्भव है जिनने अभी तक आपके चरणारविन्द के मधुर मकरन्द को एक बार भी नहीं आस्वादित किया। हमारे लिये तो धन, गृह, पुत्र पति जो भी कुछ हो, आप हो। हमने तो अपनी आत्मा को आप में समर्पित कर दिया है। जो कुशल मनुष्य इस संसार को आर्ति बढ़ाने वाला जान लेता है वह कभी इसके माया जाल में नहीं फँसता। वह तो केवल आप को ही अपना

लक्ष्य मानता है। इस लिये नाथ, हम पर दया करो। हमारी चिर संवर्धित आशा लता पर अमृत वारि का वर्षण करो। नाथ ! आज अपने अमृतोपम मधुर संभाषण से हमारी इस तप्त काया को शीतल करो। आज हमें अपने इस किसलय कोमल बाहु युगल से अपने भवच्छिद वक्षस्थल में वेष्टित कर हमारे ताप दूर करिये। नाथ, आप निष्ठुर बन कर हमें व्रज में वापस जाने का आदेश दे रहे हैं किन्तु यह आप निर्भ्रान्त सत्य मानिये कि अब हमारे में वहां लौटने की शक्ति नहीं है। यदि हम आपके द्वारा प्रताडित हुई तो सत्य समझिये इस नश्वर देह का परित्याग कर हम आज ही आप में अनश्वर रूप हो मिल जायेगी। कन्दर्प दर्प दलन निठुर! जरा अपने मधुर श्रीअङ्ग का तो एक बार निरीक्षण करो। क्यों ऐसा विश्व विमोहक रूप लेकर यहां आये हो! आपके इस मदन हृदय मथन रुपको देखकर कहो तो सही ऐसी त्रिलोक में कौन सी सती स्त्री है जो अपने आर्य चरित से विचलित न हो जाय। इस से नाथ! हम पर दया करो। आज हमें अपनी सेवा में लेकर कृतार्थ करो।''

इस प्रकार हृदय को द्रवित करने वाले गोपीजनों के वाक्य सुन भगवान् मुग्ध हो गये।

इस अवतरण के देने का तात्पर्य यह है कि श्रीगोपीजनों की भक्ति इतनी बडी चढी थी कि उनको जब भगवान् ने उनके कार्य का दिग्दर्शन करा लोक भय दिया था। तथा भाई, पिता, पति इत्यादि का नाम निर्देश कर जब लोक भय दिया था तब भी वे अचल रही थी।

इस जगह ''सर्व बाधकतास्फूर्तिः' का अर्थ हम यह भी कर सकते हैं कि 'वैदिक कर्मादि और दैहिकादि लौकिक कर्म भगवद्भक्ति के प्रतिबन्ध हैं यह जब मालूम होने लगे वह शुद्ध पुष्टि भक्ति है''

इस सन्दर्भ से पाठक गण शुद्ध पुष्टि भक्त और शुद्ध पुष्टि भक्ति के अधिकार को जान सकेंगे। जब मनुष्य शुद्ध पुष्टि भक्ति की अवस्था को प्राप्त कर लेता है तब उसे लौकिक या वैदिक कोई भी कर्तव्य करने बाकी अथवा आवश्यक नहीं रहते। ऐसे महापुरुष प्रभु प्रेम में ही तल्लीन रह कर लौकिक वैदिक कर्तव्य नहीं कर सकते।

ऐसे महात्मा के लिये श्रीमद्वल्लभाचार्यजी लिखते हैं–

"स्वाश्रमाचारसहित ब्रह्मानुभवसहितमाहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहो ब्रह्मभावं करोति। तादृशश्चेत् परिचर्या सहितो भवेत्। तदा फलरूपायां तस्यां स्वाश्रमाचारादिकरणं फलानुभवप्रतिबन्धकमिति फलत्वेनानुभवे स्वाश्रमाचारास्यक्तव्याः। यथा ब्रह्मभावं गतस्य। अन्यथा कर्तव्या इति निष्कर्षः।"

अर्थात्– अपने अपने आश्रम मर्यादा का आचरण करते करते जब ब्रह्म का अनुभव और भगवन्माहात्म्य का ज्ञान होने लगे और इसके अनन्तर प्रभु में स्नेह ब्रह्मभाव उत्पन्न करता है। अर्थात् इस अवस्था पर पहुंच जाने पर उसे ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। पूर्वोक्त सर्वगुणसहित स्नेह यदि प्रभुसेवा सहित हो तो वह सेवा त्रयोदश गुण वाली कहलाती है। कालान्तर में यही सेवा आनन्दरूपा हो कर फल रूपा हो जाती है। उस उत्कृष्ट प्रेमा भक्ति का अनुभव करने में वर्णाश्रमादि वैदिक धर्म प्रतिबन्धक होने लगते हैं। इस अवस्था में इन धर्मों का परित्याग करना पड़ता है। किन्तु जो ऐसी भूमिका में नहीं पहुंचे उनके लिये तो वर्णाश्रम धर्म सर्वथा मान्य हैं।"
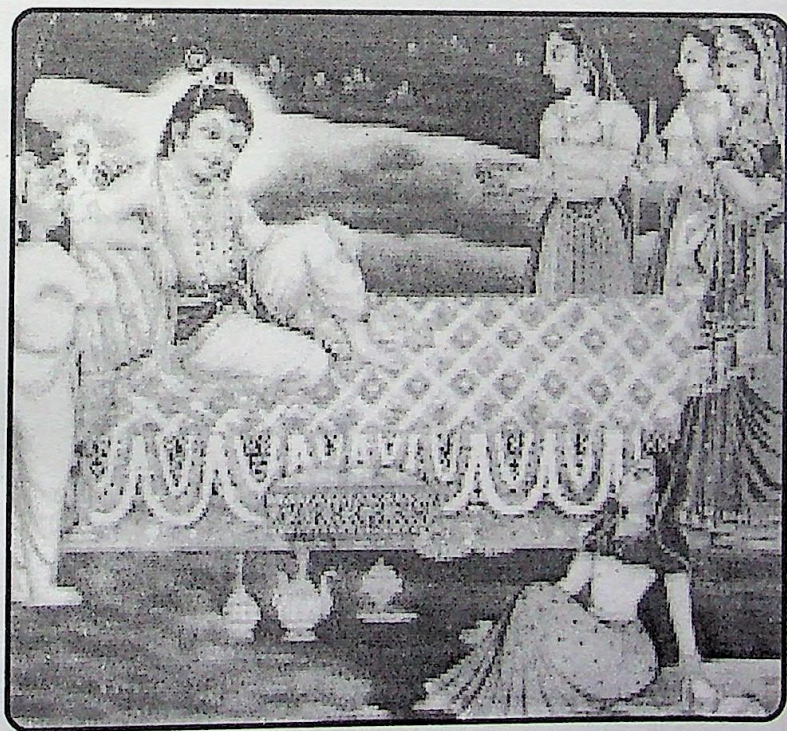
पुष्टिमार्ग के सेव्य श्रीकृष्ण

भगवान् श्रीकृष्ण ही इस पुष्टिमार्ग में सर्वोपरि गिने गये हैं और इन्हीं की इस मार्ग में परिचर्या होती है। वेद के दिव्याकार प्रभु श्रीकृष्ण ही हैं। आप पूर्णकला सहित यहां पधारे थे इसलिये आप अवतारी होने पर भी अवतार कहे जाते हैं। आपका प्राकट्य होता है किसी के द्वारा अवतार नहीं। आप दिव्य स्वरूप से यहां प्रकट हुए हैं इस बात का साक्ष्य भगवान् स्वयं अपने को बतलाते हैं। गीता में आप आज्ञा करते हैं–

जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोर्जुन।।

अर्थात्–'हे अर्जुन मेरे जन्म और कर्म दोनों दिव्य हैं। जो मनुष्य ये बात भली प्रकार जान लेता है वह फिर दुःख नहीं पाता और अन्त में मुझे प्राप्त करता है।' किन्तु यह बात सर्वत्र और सर्वदा प्राप्त नहीं होती इसी बात को प्रभु ने यों कहा है–

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।

हजारों मनुष्यों मे से थोड़े ही मुझे जानने और प्राप्त करने का यत्न करते हैं किन्तु उन थोड़े मनुष्यों में से भी कोई ही मुझे तत्वतः जान सकता है।

भूत भविष्य वर्तमान सब भगवान् श्रीकृष्ण जानते हैं किन्तु उनको कोई नहीं जानता। आप मायारुपी लवनिका से ढके हुए हैं इसलिये आपके प्रकृत स्वरुप को सर्वसाधारण नहीं जान सकते। यद्यपि वे दिव्य स्वरूप से अलक्ष्य हैं, अस्पर्श्य, अगोचर और अप्राप्य हैं किन्तु अनन्य भाव से निरन्तर स्मरण करने के लिये वे सुलभ हो जाते हैं। अनन्य भावभक्ति से ही भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं। जिनके अन्तः करण कामक्रोधादिक से मलिन हैं ऐसे साधारण मनुष्यों के लिये भगवान् दुर्लभ हैं। किन्तु जो लोग आपके चरणारविन्द का ध्यान प्रत्येक क्षण किया करते हैं उनको आप सहज में ही दर्शन देते हैं। भक्त की इच्छा के अनुकूल आप भक्तों के अनुग्रहार्थ स्वरूप धारण करते हैं।

उत्कलदेश के राजा की सभा में एक समय विवाद खडा हुआ। विवाद के विषय थे–मुख्य शास्त्र कौनसा? परब्रह्म परमात्मा कौन? मुख्य मन्त्र कौनसा? और मनुष्य का कर्तव्य क्या है? श्रीमद्वल्लभाचार्यजी जिस समय उत्कल पधारे उस समय यह वाद चल रहा था। श्रीमहाप्रभुजी के साथ सात दिन तक इस का विवाद होता रहा। श्रीमहाप्रभुजी को पण्डितों के साथ विवाद बढाना अभीष्ट नहीं था क्योंकि पण्डित वर्ग अपनी बात को मनाने का वितण्डा खड़ा करना चाहते थे। फलतः श्रीमहाप्रभुजी ने राजा से कहा कि 'राजन्, इस सभा में तो यथार्थ चल नहीं सकता इसलिये यही बात श्रीजगन्नाथजी को क्यों न पूछी जाय। वे जो कहे सो सर्वथा मानने लायक होगी।' निदान श्रीजगन्नथजी के मंदिर में कागज कलम इत्यादि रख सब बाहर निकल आये और किंवाड बंद कर दिये गये। कुछ देर बाद कपाट खोलकर देखा कागज पर निम्नांकित लोक लिखा हुआ था–

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत, मेको देवो देवकीपुत्र एव।
मन्त्रोप्येकस्तस्य नामानि यानि, कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा।।

अर्थात् शास्त्रों में केवल एक ही गोविन्द द्वारा कही गई श्रीमद्भगवद्गीता है, देवों में एक देवकी पुत्र श्रीकृष्ण ही सर्व श्रेष्ठ हैं। मन्त्र उनके नाम हैं और जीव का एक मात्र कर्तव्य भगवान् की सेवा करना है।

विद्वानों ने आपके विजय को स्वीकार किया। भगवान् श्रीकृष्ण को वेद और वेदान्तों में ब्रह्म, स्मृति में परमात्मा, और भागवत में भगवान् शब्दों से सम्बोधित किया है। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तीनों हमारे यहां गुणावतार माने गये हैं किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण निगुर्ण और परब्रह्म हैं। भगवान् क्षर और अक्षर से भी उत्तम हैं। इसी से पुरुषोत्तम हैं। गीताजी में कहा है–

यस्मात्क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तम ।
अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।

क्षर अर्थात् तुच्छ क्षयशाली–छोटी से छोटी वस्तु से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त क्षर है और अक्षर है गणितानन्द अक्षर ब्रह्म। भगवान् श्रीकृष्ण के कई प्रकार के अवतार हैं। अंशावतार कलावतार और आवेशावतार इस प्रकार भगवान् कई प्रकार से यहां अवतार ग्रहण करते हैं। जब भगवान् व्यापि वैकुण्ठ में विराजते हैं तब आप

की संज्ञा पुरुषोत्तम नाम से होती है। जब यहां प्रकट होते तब वेही श्रीकृष्ण कहते हैं। वैष्णवों के सेव्य श्रीकृष्ण ही हैं। वेही परब्रह्म हैं। अक्षर ब्रह्म भी भगवान् श्रींकृष्ण के अंश हैं। वेदों में अक्षर ब्रह्म को भगवान् श्रीकृष्ण की त्रिपाद्विभूति कहा गया है। अन्य देवता उनके ही अङ्ग हैं। 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' इस श्रीमद्भागवत के कथन से श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम सिद्ध होते हैं।

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।।

कृष्ण संज्ञा में दो शब्द हैं। इस में पहले शब्द कृष् का अर्थ होता है सत्ता और दूसरे णकार का अर्थ आनन्द है। इन दोनों के एक होने से श्रीकृष्ण का अर्थ सच्चिदानन्द होता है।

श्रीकृष्ण द्विभुज और चतुर्भज रूप से अनेक स्थलों में बिराजते हैं। वैकुण्ठ में चतुर्भुज स्वरुप से और गोलोक, गोकुल में द्विभुज रुप से लक्षित होते हैं अपने स्वरूपबल से निःसाधनों का उद्धार करने के लिये भगवान् का अवतार होता है। नन्दव्रज में श्रीकृष्ण का प्रकट होना भी इसी लिये था। आपने अनेक प्रकार की लीला व्रज में की थी। उन में से गोवर्धनधारण लीला बड़ी अद्भुत थी। नाथद्वारा में स्थित श्रीनाथजी का स्वरुप उसी गोवर्धनधारण के समय का है।

पुष्टिमार्ग में जितनी सेव्य भगवान् की मूर्तिं हैं वे सब साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण की ही साक्षात् स्वरूपभूत हैं। भक्तिमार्ग की मूर्तियों में साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम बिरामान हैं। अतः वे मूर्ति ही साक्षात् भगवान् की स्वरुपात्मक हैं। इसी लिये सम्प्रदाय में उनको मूर्ति न कह कर स्वरुप कहते हैं। ये स्वरुप केवल मन्त्राधीन नहीं हैं। भक्तिभाव का प्राधान्य होने से यहां आवाहन विसर्जनादि नहीं होता। इसी से इसे प्रतीकोपासना न कह कर स्वरुप सेवा कहते हैं। भगवान् के अनन्त स्वरुप हैं। अतः भगवान् भी उसी धातुमय स्वरुप अथवा मृण्मय स्वरूप में आविर्भूत हो जाते हैं। भक्ति की सेवा और भक्तिं जब पराकाष्ठा को पहुंच जाती है तब भगवान् स्वयं उस स्वरुप में प्रत्यक्ष प्रकट हो भक्त को दर्शन देते हैं। इसी लिये स्वरुप के श्रीहस्त को भगवान् का श्रीहस्त, चरण कमल को चरण कमल, एवं प्रत्येक अवयव को साक्षात् भगवान् का अवयव समझा जाता है। हमारे यहां

ब्रह्म को व्यापक मानते हुए भी साकार माना है। स्वरुप को जो वस्त्रादिक धारण कराये जाते हैं वे भी साक्षात् श्रीहरि को ही धारण कराये जाते हैं। परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। इनको जब सृष्टि की इच्छा हुई तब आपने प्रकृति का निर्माण किया और इससे महाविष्णु की उत्पत्ति हुई। ये महाविष्णु भगवान् के सोहलवे अंश थे। यह बात ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखी है। इस से भगवान् सर्वोपरि गिने जा सकते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है–'विष्टभ्याहमिदं सर्वमेकांशेनस्थितो जगत्।' अर्थात् यह जगत् श्रीकृष्ण के बहुत छोटे से भाग में समाविष्ट हो जाता है। श्रीकृष्णरुपी परम और ग़हन तत्व को ब्रह्मादिक देवता भी नहीं जान सके तब हम लोग तो बहुत ही साधारण हैं हम भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरुप को न समझें तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

ब्रह्मा, विष्णु और महेश भगवान् के अंश हैं। इनको श्रीकृष्ण की तीन मुख्य गुणावतार महाशक्ति कही गयी हैं। वे ईश्वर के नाम से शास्त्रों में स्मरण किये गये हैं। ब्रह्मा भगवान् की सृष्टि करने वाली, विष्णु जगत् का पालन करने वाली और रुद्र संहार करने वाली शक्तियाँ हैं। ये तीनों परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार अपना कर्तव्य पालन करते हैं। ये तीनों देव तीन गुणों के अधिष्ठाता हैं। ब्रह्मा राजस् के, विष्णु सात्त्विक के, एवं रुद्र तामस के अधिष्ठाता हैं। इन तीनों देवताओं पर उपर्युक्त तीनों गुणों की असर थोड़ी बहुत रहा ही करती है। इस लिये ये सगुण ईश्वर हैं। भगवान् पर गुणों की असर कुछ भी नहीं रहती अतः भगवान् सर्वोत्कृष्ट हैं और इसी से ये निर्गुण हैं।

'न प्रतीकेन सह' इत्यादि वाक्यों से यह समझा जाता हे कि अन्य सम्प्रदाय वाले मूर्ति को भगवत्स्वरूप से अलग मानते हैं। किन्तु हमारे सम्प्रदाय में यह बात नहीं है। भगवान् स्वरूप में ही नित्य बिराजते हैं। प्रभु भी भक्त की भक्ति देख उसी धातुनिर्मित मूर्ति से प्रकट होते हैं। इस स्वरूप में ही प्रभु अपने सब धर्मों को प्रकट करते हैं। इस लिये स्वरूप को जो श्रृंगारादिक हम धारण कराते हैं वे साक्षात् प्रभु को ही धारण कराये जाते हैं। इस स्वरूप का अपराध साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण का ही अपराध है। इसीलिये शीतऋतु में भगवान् के आगे अंगीठी रक्खी जाती है और आपके श्री अंग में गद्दल प्रभृति धारण कराये जाते

हैं तथा ग्रीष्मऋतु में पंखा, फुवारा, चंदन और इसी प्रकार के शीतोपचार किये जाते हैं। उपासना मार्ग में मूर्ति के सुख का विचार नहीं है केवल विधि का ही विचार है। भक्तिमार्ग स्नेह मार्ग है अतः यहां प्रभु के सुख का मुख्य विचार रक्खा गया है। अतः स्वरुप को जिस प्रकार सुख मिले भक्तमात्र को उसी प्रकार आचरण करना चाहिये। इसी दृष्टि को रख हमारे यहां सेवा प्रचलित की गई है।

भगवान् श्रीकृष्ण व्रजभूमि में अपने भक्तों का निरोध करने के लिये आविर्भूत हुए उस समय उनके चार व्यूह थे। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। ये ही भगवान् की चार मूर्ति हैं। इन चारों मूर्तियों का कार्य भी विभिन्न रहता है। आसुरों को जहां मुक्ति दी गई है वह वासुदेव का कार्य है। पहले कलात्मना भवान् संकर्षण के द्वारा मृत्यु उनको मिलती हे अनन्तर वासुदेव उनको मुक्ति प्रदान करते हैं।

जिस प्रकार जाज्वल्यमान् अग्नि अपने किरण और मण्डल के सहित अस्तित्व में रहती है अथवा जिस प्रकार सूर्य अपने किरण और मण्डल सहित आविर्भाव ग्रहण करते हैं उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने चार व्यूहों के सहित यहां प्रकट होते हैं। जिस प्रकार सूर्य और अग्नि से उन उन के किरण और मण्डल पृथक नहीं है उसी प्रकार भगवान् के ये चार व्यूह भी भगवान् से पृथक नहीं हैं।

जिस प्रकार सूर्य के किरण सूर्य ही रूपान्तर हैं, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण का रूपान्तर ही वासुदेव व्यूह है। इस लिये जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण मुक्तिरुप और सर्वोद्धार समर्थ हैं उसी प्रकार वासुदेव व्यूह भी यह कार्य करने में क्षम्य है।

जिस प्रकार सूर्य किरणों के आसपास मण्डल होता है उसी प्रकार संकर्षण व्यूह है। संकर्षण में वासुदेव का संकर्षण रूप से भगवान् का आवेष है। इसी लिये व्रज युवतियों के साथ आपने भी एक समय लीला की थी। सर्व कर्षक होने से संकर्षण कुछ फलात्मक भी हैं। इनका कार्य असुरों के संहार करने का है।

उस मण्डल का ही अंशुरूप प्रद्युम्न व्यूह है। इनका कार्य वंशस्थापन है। अंशु के मण्डल रूप अनिरुद्ध व्यूह हैं। इनका कार्य धर्म रक्षा है। वस्तुगत्या ये चारों व्यूह भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं।

भगवान् का प्राकट्य दो प्रकार से होता है। स्वरुप से और कार्य से। श्रीमद् भागवत के दशमस्कन्ध के चार अध्यायो में क्रमसे चतुर्व्यूह प्राकट्य मथुरामें कार्य रुपसे हुआ था। तीनों व्यूहों के सहित श्रीपुरुषोत्तम का स्वरुपतः प्राकट्य मथुरा में ही हुआ था। कंस से देवकी का मृत्युनिवारण आपने प्रकट होकर किया इस लिये वासुदेव व्यूहका प्राकट्य भगवान् का कार्य रूप से था।

बलदेव और वासुदेव के सहित पुरुषोत्तम का व्रज में प्राकट्य स्वरुपतः है। व्रज में आपका प्राकट्य कार्यतः भी है। क्योंकि वहां आपने निःसाधन व्रजजनों का उद्धार किया था।

भगवान् श्रीकृष्ण जिस समय भूतल पर विराजते है उस समय वे अपने स्वरुप बल से जीवों का उद्धार करते हैं और जब आप तिरोहित रहते हैं उस समय भक्ति के द्वारा जीवों का उद्धार होता है।

ब्रह्म सम्बन्ध

ब्रह्मवाद का सबसे बड़ा सिद्धान्त है ब्रह्मसंबंध अथवा आत्म निवेदन। यह वल्लभ पुष्टिमार्गीय दीक्षा है। यह बात श्रीमहाप्रभुजी ने कोई नई नहीं निकाली। ब्रह्मसंबंध वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र और भागवत में प्रमाणित है। यदि सच कहा जाय तो यह है कि श्रीमहाप्रभुजी ने अपनी तरफ से कोई बात की ही नहीं है और न कोई अपना खास सिद्धान्त जनता को बतलाया ही। आपने तो केवल उन बातों को प्रकट किया जो वेद, गीता, सूत्र और भागवत में छुपी हुई पड़ी थी। ब्रह्मसंबंध भी उन्हीं प्रस्थान चतुष्टय में अनुस्यूत है।

वेदों में लिखा है– 'स वा अयमात्मा सर्वेषांः भूतानामधिपतिः। सर्वेषां भूतानां राजा। तद्यथा रथनामौ च रथनेभो चाराः सर्वे समर्पिताः। एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मनः समर्पितः।'

अर्थात्–यह जो सब प्राणी मात्र का अधिपति विश्वात्मा प्रसिद्ध परमात्मा है वह सब प्राणीमात्र का राजा है जिस प्रकार रथ के चक्र की नाभि और नेमी में सब आरा अर्पित हैं उसी प्रकार इस परमात्मा के चरणों में सर्वभूत, सर्व लोक, सर्वदेव, सर्वप्राणी और सर्व जीवात्मा समर्पित हैं।

उपर्युक्त श्रुति मनुष्य और परमात्मा का संबंध बता रही है। सर्व प्राणियों का मूल परमात्मा होने से उन सब पदार्थो का, अपने आप को एवं अपने से संबंध रखने वाले सभी को परमात्मा के अर्थ निवेदन करना उचित है। आत्मनिवेदन करने से अवश्य ही आध्यात्मिक सुख की वृद्धि होती है।

यह निश्चय ही याद रखना चाहिये कि यह आत्मसर्पण या आत्मनिवेदन सर्वशक्तिमान् ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के अर्थ करने में आता है आचार्य गुरु या और इतर व्यक्ति को आत्मसमर्पण शास्त्रों से निषिद्ध है और उसे हमारे संप्रदाय में स्थान नहीं हैं। केवल आचार्य की साक्षी में और आपके उपदेश से यह निवेदन श्रीठाकुरजी के समीप होता है। आत्मनिवेदन करने से हमारा ईश्वर के साथ संबंध स्थापित होता है इसलिये इसे ब्रह्म संबंध कहते हैं। ब्रह्म संबंध मन्त्र के अर्थानुसार इस ज़ीव का ईश्वर के साथ जो सहस्त्र सहस्त्र वर्ष पर्यन्त बिछोह रहा है और जिसके द्वारा उस संबंध में जो शैथिल्य आ गया है उसे पुनः स्थापित करने की प्रार्थना की है। इसी को पारिभाषिक शब्दों में ब्रह्म संबंध कहते हैं। सर्व

शक्तिमान् ईश्वर के साथ संबंध होना इसे ही ब्रह्मसंबंध कहते हैं। ब्रह्मसंबंध हो जाने पर जो शास्त्रीय पांच प्रकार के दोष होते हैं उनकी निवृत्तिहो जाती है इसी बात को श्रीमहाप्रभुजी भी कहते हैं–

ब्रह्मसंबंधकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पंचविधाः स्मृताः।।८।।

अब जरा ब्रह्मसंबंध पर आलोचना कर देखें। जीव ब्रह्म का अंश है यह बात क्या वेद, क्या गीता, और क्या सूत्र या भागवत् सर्वत्र प्रमाणित हैं। जीव ब्रह्म का अंश होने से निर्दोष है। किन्तु यह निर्दोषत्व स्वरुपतः है स्वभावतः नहीं। किन्तु कितने ही स्वभावतः दोषों के जीव में आजाने से ब्रह्म का संबंध जीव भूल जाता है। इस अपने भूले हुए संबंध की पुनः याद दिला देना गुरु का कार्य है। जिस समय जीव आचार्य या गुरु की साक्षी में अत्यन्त दीन हो अपनी अवस्था का ध्यान रख अपने और ब्रह्म के संबंध की याद करता है, संक्षेप में यही ब्रह्मसंबंध है। जो जीव अनादि काल से अनेक दोषों के आ जाने से अपने और श्रीकृष्ण के संबंध को भूल रहा है उसके लिये यह ब्रह्मसंबंध है। जीव ब्रह्म का अंश है और ब्रह्म जीव का अंशी। यह अंशांशी भाव संबंध अतिप्राचीन है। ऐसा कोई भी भगवच्छास्त्र नहीं है जिसमें कि यह ब्रह्मसंबंध न हो।

ब्रह्मसंबंध शुद्धाद्वैतमत में एक दीक्षा का नाम है। इसके कुछ अंश भी हैं। जैसे आत्मनिवेदन शरण, या आत्मसमर्पण आत्मनिक्षेप। इन सभी का एकत्रितरुप ब्रह्मसंबंध हैं। 'जीव प्रभु का है' 'मैं आप का हूं' बस यही स्मरण रखना दोष निवृत्ति का सरल उपाय है। दीनता का अनुभव करके अपनी वस्तु स्थिति निवेदन कर स्वामी के आगे जो यह कह रहा है कि 'हे प्रभो, मैं आपका दास हूं, आप मुझे अपनी शरण में लीजिये। मैं आपकी शरण आया हूं।' उसकी अवश्य ही दोष निवृत्ति होती है। प्रभु सर्व समर्थ हैं सब के स्वामी हैं उनको ही भूल जाने का अपराध इस जीव ने किया हैं अर्थात् प्रभु के पदार्थों में अपनी अहंता ममता स्थापित की है, और अपने ही पदार्थ समझ स्वामी का अक्षम्य अपराध किया है। इस महान् अपराध की निवृत्ति उनके शरण जा अपना आत्मनिवेदन करने से ही होती है। सत्य, समर्थ और दयालु स्वामी के आगे अपने दोष की निवृत्ति करने का उपाय है तो वह अपने दोष को स्वीकार और उन से क्षमा प्रार्थना ब्रह्मसंबंध भी यही है। अपने सर्वसमर्थ ईश्वर के आगे गुरु की साक्षी में आत्मनिवेदन करना,

जीव के यावत् पदार्थ प्रभु के हैं यह स्वीकार करना, तथा अहन्ता ममता वश जीव को जो प्रभु पदार्थ पर अभिमान् हुआ था उस की क्षमा याचना और अपने को प्रभु का दास समझना ही ब्रह्मसंबंध है।

''ब्रह्मसंबंध'' शब्द में ब्रह्म शब्द का अर्थ भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण है और संबंध का अर्थ है अंशांशी भाव वा स्वस्वामिभाव संबंध। भगवान् के अनेक नाम रहते हुए भी यहां ब्रह्म शब्द इस लिये रक्खा गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण को वेद में ब्रह्म नाम से संबोधित किया गया है। इस ब्रह्मसंबंध मन्त्र को वेदादिविरुद्ध बताने के लिये ही यहां ब्रह्म शब्द रक्खा गया है।

''ब्रह्मसम्बन्ध'' का अर्थ है कि ''हे स्वामिन्, यह दास आपका है। इसका धन, धान्य, पुत्र, कलत्र (स्त्री) और सर्वस्व आपका ही है। मैं अत्यन्त दीन और निःसाधन हूं। मेरे पास मोक्ष के लिये या आपको प्रसन्न करने के लिये कोई भी साधन नहीं है। अतएव हे दयालो, दया कर मुझे आप अपनी सेवा में अंगीकार कीजिये। मैं आप ही का हूं।''

''ब्रह्मसंबंध'' हो जाने पर प्रत्येक वैष्णव को अपने उपभोग से पूर्व सकल पदार्थ भगवान् के समर्पण करने चाहिये। कोई भी कार्य भगवान् की आज्ञा लेकर ही करना चाहिये। जैसे घर में अपने पुत्र का विवाह हो तो ठाकुरजी के समीप जा आजानुनतमस्तक हो हाथ जोड़ अत्यन्त दीनता और विनय पूर्वक कहना चाहिये ''नाथ ! आपके पुत्र का विवाह है। आपकी आज्ञा की इस में अपेक्षा है। विवाह की आज्ञा दीजिये''।

विवाह हो जाय तब नववधु को लाकर ठाकुरजी के सन्मुख दण्डवत करा कहना चाहिये ''नाथ ! आपकी आज्ञानुसार आपके दास दासियों में एक दासी की अभिवृद्धि कर ली गई है। कृपालो, आप इसे स्वीकार करिये'' इसी प्रकार अपने लिये लाई गई समस्त वस्तु पहले ईश्वर के निवेदन करें। निवेदन का अर्थ विज्ञापन, है दान नहीं; यह बात भूलनी नहीं चाहिये। निवेदन, यदि तात्पर्यतः देखा जाय तो सम्बन्ध स्थापन या सम्बन्ध स्वीकार ही है। 'ब्रह्मसंबंध' मन्त्र मानो उपदेश दे रहा है– 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'। जगत् के सर्व धर्मों का परित्याग करना हो तो कर दो केवल एक मेरे ही शरण चले आओ, मुझ से संबंध स्थापित कर लो, तुमारा उद्धार हो जायेगा।

ब्रह्म सम्बन्ध दीक्षा

वैष्णवों को 'ब्रह्मसम्बन्ध' दीक्षा अवश्य लेना चाहिये। बिना ब्रह्मसम्बन्ध के कोई भी मनुष्य वैष्णव नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अवैष्णवों को भी इस दीक्षा को खुशीसे लेनी चाहिये। वैष्णवी दीक्षा बिना और आचार्य की कृपा के बिना भगवान् का सेवक कोई भी मनुष्य नहीं हो सकता। इस लिये वैष्णवी दीक्षा तो अवश्य लेनी चाहिये। दीक्षा वाले पर ही भगवान् प्रसन्न होते हैं। इस लिये मनुष्य मात्र को ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा लेनी चाहिये। जिसने आचार्य के पास से दीक्षा ग्रहण की है उसे भगवान् अवश्य सिद्धि प्रदान करते हैं।

जिसने दीक्षा पूर्वक, इस ब्रह्मसम्बन्ध मन्त्र को अपने आचार्य को साक्षी रखकर, लिया है उसके कोटि जन्म के पाप नष्ट हो जाते हैं।

आचार्य के द्वारा ही मन्त्र का ग्रहण

यह ब्रह्मसंबंध दीक्षा आचार्य के पास से ही ली जाती है। वैष्णव या और किसी के पाससे भी दीक्षा लेने से मनुष्य दोष का भागी होता है। जो भगवान् का भक्त होता है वह आचार्य के ही द्वारा मन्त्र ग्रहण करता है। जो पुरुष अवैष्णव या वैष्णव के पास दीक्षा ग्रहण करता है उसकी कभी भक्ति सिद्ध नहीं होती। वह श्रीकृष्ण से विमुख हो जाता है। जो मनुष्य आचार्य के अतिरिक्त और किसी के भी पास दीक्षा ग्रहण करता है उसके सर्व धर्म कर्म निष्फल हो जाते हैं और कोई भी कार्य में उसे अधिकार नहीं रहता। इसलिये वैष्णव आचार्य के अतिरिक्त किसी के पास मन्त्र ग्रहण न कर सदा आचार्य गुरुदेव के पास ही दीक्षा लेनी चाहिये।

गुरु के मुख से कृष्णमन्त्र जिसके कर्णविवर में प्रवेश करता है। उसे शास्त्रकारों ने महापवित्र गिना है। जिसकी इच्छा ब्रह्मसम्बन्ध लेने की हुई हो उसे भाग्यवान् मानना चाहिये।

शास्त्रों मे लिखा है–

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' अर्थात् जिसे ज्ञान की इच्छा हो ऐसे शिष्य को दीन हो गुरु के पास जाना चाहिये।

श्रीगीताजी में भी कहा है–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः।।

भगवान् ने आचार्य को अपना ही स्वरुप माना है आपने कहा है 'आचार्यं मा विजानीयात्' अर्थात् आचार्य मेरा ही स्वरुप है यह निश्चय जानो। इसी लिये हमारे यहां ब्रह्मसंबंध की दीक्षा भी आचार्य द्वारा ही दी जाती है।

ब्रह्म सम्बन्ध दीक्षा की आवश्यकता

ब्रह्म सम्बन्ध दीक्षा, यह मानो एक महायज्ञ हैं इस यज्ञ में किसी भी प्रकार का दोष आता ही नहीं है। श्रीमहाप्रभुजी ने भक्तिमार्ग को सर्वजीवों के उद्धारार्थ प्रचलित किया है। इस दीक्षा को लेने का सभी का अधिकार समान रूप से है। जिस प्रकार सूर्य के तेज का सब उपयोग कर सकते हैं, जैसे उसमें भेदभाव नहीं है उसी प्रकार भक्ति में भी जातिभेद या वर्ण भेद कुछ भी नहीं है। हर कोई मनुष्य इस दीक्षा को ले सकता है और सभी के दोषों की निवृत्ति समान रूप से ही होती है। ब्रह्मसंबंध आत्मनिवेदन पूर्वक भगच्छरणागति को सिद्ध करने वाला है। अतएव इस में सब देह जीव का समान अधिकार है। भगवान् ने भी कहा है–

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्।।

अर्थात् हे अर्जुन, मेरे शरण आने वाले स्त्री, वैश्य, शूद्रादिक तथा चाहे जितने पाप वाले हों सभी श्रेष्ठ गति को प्राप्त होते हैं।

ब्रह्म सम्बन्ध लिये बिना स्वरूप सेवा का अधिकार नहीं होता

जिस प्रकार पतित ब्राह्मणों का संध्यावन्दनादि कर्म करने का अधिकार नहीं है उसी प्रकार ब्रह्मसम्बन्ध लिये बिना भी सेवा में अधिकार नहीं है। इसलिये आत्मा के कल्याणार्थ और सेवा में अधिकार हो इसलिये जीव को गुरु के पास से दीक्षा अवश्य ग्रहण करनी चाहिये। जिस प्रकार जन्म से शूद्रप्राय ब्राह्मण भी गायत्री ग्रहण करने से द्विज हो जाता है और फिर उसे ब्रह्मणोंचित कर्मों के करने का अधिकार हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्मसम्बन्ध मंत्र ग्रहण करने से सेवा में अधिकार हो जाता है। ब्रह्मसम्बन्ध बिना सेवा में अधिकार नहीं हो सकता।

निर्दोष होने के लिये अहन्ता ममता का त्याग होना चाहिये। ब्रह्मसम्बन्ध लेने पर और मन्त्र के आशय पर हर घडी ध्यान रखने पर अहन्ता ममता नाश हो

जाती है। जीव को समझ लेना चाहिये कि ये घर, धन, पुत्र, कलत्र, (स्त्री) सभी ईश्वर के ही है। मेरा कुछ भी नहीं है। मेरी इन पर अहन्ता ममता करना अयोग्य और मेरी यह चेष्टा अनधिकार चेष्टा है।

आत्मनिवेदन क्या है ?

मनुष्य इस लोक में जिसके ऊपर अधिक प्रीति रखता हो वह सर्व वस्तु जैसे देह, धन, प्राण, पुत्र, कलत्र समग्र भगवान् के अर्पण करना चाहिये। अर्थात् शास्त्र की आज्ञा के अनन्तर इनको, प्रभु के और तदीय होने से, अपने उपयोग में लाना चाहिये। इसी का नाम है आत्मनिवेदन। इस आत्मनिवेदन के अनन्तर भगवान् के साथ जो अंशांशी सम्बन्ध नित्य है उसका वारंवार स्मरण करना इसी को ब्रह्मसम्बन्ध कहते हैं।

आत्मसमर्पण का भाव देखिये आचार्यचरण किस योग्य रीति से प्रतिपादित करते हैं। आप लिखते हैं–

गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
कृष्णार्थं तत्प्रयुंजीत कृष्णोनर्थस्यवारकः ।।

अर्थात्–घर की ममता सर्वथा त्याज्य है। यदि वह ममता छोडी न जा सके तो उसे श्रीकृष्ण के उपयोग में लावे। भगवान् श्रीकृष्ण सब अनर्थों के वारक हैं।

इस आत्मनिवेदन को सर्वत्र और सर्वदा ध्यान में रखना चाहिये यह महाप्रभुजी की आज्ञा है। अहन्ता ममता का नाश करने के लिये यही सर्वोत्तम उपाय है। इससे यह प्रभु का ही है। मैं भी प्रभु का ही हूं और प्रभु ही मेरा सर्वस्व है। मैं प्रभु के आधीन हूं इसलिये उनकी आज्ञानुसार ही मुझे चलना चाहिये। दासत्व स्वीकार ने से मन में दीनता रहती है इसलिये आत्म निवेदन को प्रत्येक समय में याद रखना चाहिये।

आत्मसमर्पण क्या है ?

आत्मसमर्पण एक बडा भारी यज्ञ है यह हम पूर्व में कह चुके हैं। सब शास्त्र यज्ञ करने का उपदेश दे रहे हैं। क्योंकि बिना यज्ञ के दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति हो नहीं सकती। पृथ्वी अपना तत्व देकर बीज क़ा पोषण करती है यह

पृथ्वी का यज्ञ है। सूर्य अपने किरणों से मनुष्य मात्र को सतेज करता है यह भी उसका यज्ञ है। किन्तु ये सब लघुयज्ञ हैं और आत्मसमर्पण एक महान् यज्ञ है। क्योंकि इसमें अहन्ताममतादिक सर्व सामग्रियों का यज्ञ करने में आता है। यह एक ऐसा महायज्ञ है जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार सभी को होम कर दिया जाता है और भगवान् से शुद्ध प्रेम का दान लिया जाता है। भगवान् स्वयं, जो कुछ भी भक्तिपूर्वक दिया जाय, उसे ग्रहण करते है। किन्तु इस आत्मसमर्पण यज्ञ में तो भगवान् को तन, मन, धन सब प्रेम पूर्वक समर्पित किया जाता है। इसलिये यह यज्ञ सर्वयज्ञो में श्रेष्ठ है।

ब्रह्मसंबंध सिद्धान्तानुसार असमर्पित वस्तुओं का त्याग करना चाहिये और अर्धभुक्त वस्तु स्वामी के कभी भी समर्पित नहीं करनी चाहिये। सब कर्म ब्रह्म के समर्पित करके किये जाते हैं। इसलिये जीव को दोष का भागी नहीं होना पड़ता। इन बातों का ध्यान रख दीक्षित को सर्व कार्य सम्पन्न करने चाहिये। ब्रह्मसम्बन्ध के अनन्तर ही जीव सेवा का अधिकारी हो सकता है।

ब्रह्मसम्बन्ध करने से जीव के जो पांच दोष है उनकी निवृत्ति हो जाती है। जहां तक ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा ग्रहण नहीं की जाती वहां तक ही ये पांच दोष जीव के सेवामें बाधक रहते हैं। ब्रह्मसम्बन्ध लिये पीछे जिस प्रकार पुलिस को देखकर चोर भाग जाते हैं। उसी प्रकार से सेवा बाधक दोष भी जीव को छोड़ भाग जाते हैं।

मर्यादा मार्ग में दोष की निवृत्यर्थ ब्राह्मण, क्षत्री या वैश्यादिको प्रायश्चित्त करना पडता है किन्तु शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग में हर कोई जीव भी ब्रह्मसम्बन्ध लेने से शुद्ध हो जाता है अर्थात् उसकी सेवा समय में बाध करने वाली दोषनिवृत्ति हो जाती है। ब्रह्मसम्बन्ध मन्त्र यह प्रायश्चित का आधिदैविक स्वरूप है इसलिये जीव के सर्व दोषों की निवृत्ति हो जाती है।

श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं–

ब्रह्मसंबंधकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वथा दोषनिवृत्तिः स्यात् दोषाः पंचविधाः स्मृताः।।

देह और उसके अंग रूप इन्द्रिय, तथा देह के संबंधी स्नेही और धनादि के सहित, ब्रह्मसंबंध होता है तब सब में से अपनी ममता हट जाती और जीव को अपने स्वरुप का ज्ञान हो जाता है।

ब्रह्मसम्बन्ध हो जाने पर ऐसी शुद्ध भावना रखनी मानो अपने जितने आत्मीय वर्ग हैं या अपना जो भी कुछ है वह सब प्रभु का ही है प्रभु की आज्ञा से अब नौकर की भांति मैं इनका उपयोग कर रहा हूं। मेरा कुछ भी नहीं है। सब प्रभु का ही है।

ब्रह्मसंबंध मन्त्रोपदेश लेने के अनन्तर उसका हमेशा स्मरण रखना चाहिये। तथा भगवान् की सेवा शुद्ध अन्तःकरण पूर्वक करनी चाहिये। तभी मन्त्रोपदेश सफल होता है।

परीक्षार्थ प्रश्न

ब्रह्मसम्बन्ध क्या है?

वह किससे लिया जाता है?

ब्रह्मसम्बन्ध की सिद्धि हो इसके लिये क्या कर्तव्य है?

असमर्पित वस्तु क्या ग्राह्य हैं?

ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा की क्या आवश्यकता है?

आत्मनिवेदन क्या है?

ब्रह्मसम्बन्ध का फल क्या है?

पतित पावनी जय यमुने

कितने युग से किसका यमुने करती हो यह आराधन,
कितने युग तक किया करोगी इसी तरह का आह्लादन ।
यमुने, क्या फिर एक बार यह भारत वह भारत होगा,
क्या एक बार फिर कृष्णचन्द्र का तेरे तीर वास होगा ॥

-व्रज॰

श्रीयमुनाजी

श्रीयमुनाजी नदी हमारे सम्प्रदाय में बड़ी पवित्र गिनी गई हैं। आधिदैविक आप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चतुर्थ यूथ की स्वामिनी हैं। श्रीगंगाजी के स्नान से जो फल प्राप्त होता है वही फल श्रीयमुनाजल के पयः पान करने से होता है। श्रीयमुनाजी का सतत चिन्तवन करने से स्वभाव पर विजय होती है। इस से श्रीकृष्णचन्द्र में प्रीति दृढ हो जाती है।

श्रीयमुनाजी के भक्त को आठ प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है।

श्रीयमुनाजी की सेवा से भगवान् की सेवा करने लायक देह की प्राप्ति होती है। श्रीयमुनाजी अपने में भक्ति रखने वाले भक्त की रति भगवान् श्रीकृष्ण में बढाती हैं। भगवत्संबंध होने में जो २ बाधा आती हैं उनको आप कृपा पूर्वक दूर करती हैं। आप अपने भक्त के अन्तःकरण को इतना निर्मल कर देती हैं कि जिस से भक्त के हृदय में भगवान् की भावना उदय हो सके।

पुष्टिमार्गीय मान्यता के अनुसार भगवान् में जितने धर्म हैं उतने ही धर्म श्रीयमुनाजी में हैं। श्रीयमुनाजी अपने भक्त के कलि दोषों को दूर करती हैं। अपने भक्तों को भगवान् के अत्यन्त प्रिय बनाती हैं। इस देह का नवीन सेवोपयोगी देह तैयार करती हैं। सम्प्रदाय में श्रीकालिन्दी और श्रीयमुनाजी भिन्न २ मानी गई हैं।

श्रीमहानुभाव श्रीहरिरायचरण की आज्ञानुसार श्रीयमुनाजी, श्रीठाकुरजी एवं श्रीमहाप्रभुजी तीनों समान स्वरूप में स्थित हैं। तीनों सेवोपयोगी देह दे सकते हैं। तीनों भक्त का निरोध कर सकते हैं और तीनों ही भाव भावनाओं का दान कर सकते हैं। श्रीयमुनाजी के समकक्ष श्रीलक्ष्मीजी भी नहीं हैं। श्रीयमुनाजी का भक्त अवश्य श्रीकृष्ण को प्रसन्न कर सकता है।

श्रीयमुनाजी यम की भगिनी हैं। यम अपनी भगिनी के भक्तों पर कोप करने में असमर्थ हैं।

परीक्षार्थ प्रश्न

श्रीयमुनाजी का स्वरूप और सामर्थ्य क्या है ?

श्रीयमुनाजी के सेवन से किन फलों की प्राप्ति होती है ?

ब्रह्मवाद के कुछ सिद्धान्त और उनकी समझ

ब्रह्मवाद के कुछ सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराने के पहले यदि 'ब्रह्मवाद' का अर्थ स्पष्ट कर दिया जायेगा तो विद्यार्थियों को बड़ी सुगमता होगी। यह हम पूर्व कह चुके हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण को ही ब्रह्म कहते हैं। स्मृति में जिसे परमात्मा और पुराणों में जिसे भगवान् कहा है उसे ही वेदो में ब्रह्म शब्द से संबोधित किया है। 'ब्रह्म' शब्द का वेद शास्त्रादि समन्वित अर्थ है–

निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो, निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः।
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि–सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा।।

नि. शा.४४.

अर्थात् जो दोष रहित है, सर्वगुणों से संपूर्ण है, स्वतंत्र है, जड़ शरीर के गुणो से रहित है, करपाद मुख तथा उदर इत्यादि अवयव जिसके आनन्द मात्र स्वरूप वाले हैं, अथवा त्रिविध भेद रहित है वही ब्रह्म है। ऐसे ब्रह्म के स्वरुप का ज्ञान कराने वाला ही ब्रह्मवाद है। ब्रह्म के स्वरुप का स्वरूप शास्त्रो में इस प्रकार वर्णित है–

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।
अनन्तमूर्तितद् ब्रह्म ह्यविभक्तं विभक्तिमत् ।। नि. शा. ४४.

अर्थात्– ब्रह्म के सर्वत्र इन्द्रियादि हैं, ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होकर स्थिति करनेवाला है, वह अनन्तमूर्ति है, वह विभाग रहित है, और (इच्छा मात्र से प्रकट होने के लिये) विभाग वाला है।

सच्चिदानन्दरूपं तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम् ।
सर्वशक्तिस्वतन्त्रं च सर्वज्ञं गुणवर्जितम्।। नि. शा. ६५,

अर्थात्– ब्रह्म सत, चित् और आनन्द स्वरूप है। वह व्यापक है, नाश रहित है, सर्वशक्तिमान् है, स्वतन्त्र है, सर्वज्ञ है और प्राकृत गुण रहित है।

सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतवर्जितम् ।
सत्यादिगुणसाहस्त्रैर्युक्तमौत्पत्तिकैः सदा।। नि.शा.६६

अर्थात्– वह ब्रह्म सजातीय विजातीय स्वगत भेद रहित है और नित्य स्वाभाविक सत्य आदि हजारों गुणों से युक्त है।

सर्वाधारं वश्यमायमानंदाकारमुत्तमम्।
प्रापंचिकपदार्थानां सर्वेषां तद्विलक्षणम्।।६७।।

अर्थात् ब्रह्म सर्वजगत् का आधारभूत है। माया को वश में रखने वाला, आनंदाकर उत्तम और सर्व प्रापंचिक गुण पदार्थों से और धर्मो से विलक्षण है।

जगतः समवायि स्यात् तदेव च नितित्तकम् ।
कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपंचेऽपि क्वचित्सुखम्।।६८।।

वह ब्रह्म ही जगत् का समवायि कारण हैं और वही जगत् का निमित्त कारण भी है। वह ब्रह्म कभी अपने स्वरूप में रमण करता है और कभी प्रपंच में सुख से रमण करता है।

यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा।
स्यादिदं भगवान्साक्षत्प्रधानपुरुषेश्वरः।।६९।।

अर्थात्– जिसके विषय में, जिस के द्वारा, जिस से, जिस संबंध द्वारा जिस के लिये और जो जिस प्रकार से जब होते हैं वह देश वह हेतु वह अपदान वह संबंध वह प्रयोजन और वह पदार्थ सब कुछ प्रधान पुरुष के नियन्ता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च ।
विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम्।।७१।।

अर्थात्– वह ब्रह्म अनन्तमूर्ति है। कूटस्थ और चल है वह सब विरुद्धधर्मों का आश्रय है और युक्ति के लिये अगम्य है।

आविर्भावतिरोभावैर्मोहनं बहुरूपतः।
इन्द्रियाणां तु सामर्थ्याददृश्यं स्वेच्छया तु तत्।।

आविर्भाव और तिरोभाव ब्रह्म की शक्ति हैं। उन शक्तियों के द्वारा ब्रह्म नाना रूप से मोह उत्पन्न करता है। वह इन्द्रियों के सामर्थ्य से अदृश्य है उसी प्रकार अपनी इच्छा से दृश्य भी है।

स एव हि जगत् कर्ता तथापि सगुणो न हि ।
गुणाभिमानिनो ये वे तदंशाः सगुणाः स्मृताः।।७३।।
कर्ता स्वतन्त्र एवं स्यात्सगुणत्वे विरुध्यते।

अर्थात्– वही ब्रह्म जगत् का कर्ता है फिर भी सगुण नहीं है। तीन गुणों से युक्त जिन देवताओं को गुणाभिमानी कहा है वे ब्रह्म के (भगवान् श्रीकृष्ण के) अंश हैं। वे देवता सगुण हैं किन्तु कर्ता तो स्वतन्त्र ही होता है। स्वतंत्रता में सगुणत्व विरुद्ध है।

ब्रह्म का स्वरूप

श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभु ने और भी स्थलों में ब्रह्म का स्वरुप कैसा माना है इस बात को अब हम और निरुपण कर देते हैं। निबन्ध में आप आज्ञा करते हैं–

यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे ब्रह्म तनुः परे।
अवतारी हरिः कृष्णः श्रीभागवत ईर्यते।। शा.।।११।।

अर्थात्– वेद के पूर्वकाण्ड में (क्रिया शक्ति विशिष्ट) यज्ञ रूप हरि का निरूपण किया गया है। ज्ञान प्रविष्ट ब्रह्म रूप का उत्तरकाण्ड में निरूपण है और (क्रिया तथा ज्ञान उभयविशिष्ट) अवतारी हरि श्रीकृष्ण का श्रीभागवत में निरूपण हुआ है।

सूर्यादिरूपधृक्ब्रह्म काण्डे ज्ञानांगभीर्यते।
पुराणेष्वपि सर्वेषु तत्तद्रूपो हरि स्तथा।। नि.शा.११।।

अर्थात्– सूर्यादि रूप धारण करने वाले हरि ब्रह्मकाण्ड में ज्ञान के अंग कहलाते हैं और उसी प्रकार सर्व पुराणों में भी जो नाम लिये गये हैं वे रूप श्रीकृष्ण ही हैं।

पंचात्मकः स भगवान् द्विषडात्मकोभूतपंचद्वयीशतसहस्त्रपरामितश्च।।
एकः समोप्यखिलदोषसमुज्झितोऽपि सर्वत्र पूर्णगुणकोपि बहूपमोभूत्।।
नि. शा. ४२।।

अर्थात्– वही ब्रह्म पांच रूप धारण करने वाला है। वही द्वादश स्वरूपात्मक हैं। दश रूप भी वह आप ही है इसी प्रकार शत, सहस्त्र और असंख्य विभूति रूप भी वह आप ही है। वह सर्वत्र और सभी में एक ही है। सम है, सर्व दोष विवर्जित है। सर्वत्र पूर्ण गुणवान् भी अनन्त उपमा युक्त है।

भजनं सर्वरूपेषु फलसिद्ध्यैतथापि तु।
आदिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यया।।१३।।

अर्थात्– शास्त्रों में फलसिद्धि के लिये भगवान् के सर्व रूपों का भजन करने का कहा है। किन्तु परब्रह्म के विषय में और फिर भी सायुज्य की कामना के लिये आदिमूर्ति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही सेव्य हैं।

ब्रह्मवाद

"ब्रह्मवाद" क्या है इसका दिग्दर्शन बहुत संक्षेप में यहां पर कराया जाता है। इसका और इसके स्वरूप का विस्तृत विवेचन आगे चलकर किया जायेगा।

श्रीमद्ववल्लभाचार्य ने ब्रह्मवाद की व्याख्या अपने ग्रन्थ में यों की है–

आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः।। शा. १८३।।

अर्थात् यह जो भी कुछ दीखता है वह निश्चय ही आत्मा है (ब्रह्म ही है) वह स्वयं सृष्टि करता है और वह आपही सृष्टि भी बन जाता है। विश्वात्मा आप रक्षण भी करता है और रक्षित भी आप ही होता है। वह हरण भी करता है और आप भी हरण कर लिया जाता है। यही विशिष्टता और विचित्रता है।

आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा ।
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथा मतिः।।
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम्।। शा. १८४।।

अर्थात् यह सब आत्माही है उसी प्रकार यही सब ब्रह्म है। सर्व श्रुतियों का यही अर्थ और तात्पर्य है यह ग्रहणकर पुरुष मात्र को अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार वेदार्थ साध्य करना चाहिये। इसी को ब्रह्मवाद कहते हैं और यही वास्तव में ब्रह्मवाद है। अन्य जो कुछ कहा गया है सब कल्पित है और इसी से मोहक है।

अर्थोयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः रामायणैः सहित भारतपंचरात्रैः।
अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सहतत्त्वसूत्रैर्निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव।।

अर्थात्– इसी ब्रह्मवाद के अर्थ को भगवान् श्रीकृष्ण ने समग्र वेद वाक्य, रामायण, भारत, पंचरात्र, अन्यशास्त्रों के वचन और व्यास सूत्रों के द्वारा, एक वाक्यता कर, रहस्य सहित सर्वकाल के लिये श्रीमद्भगवद्गीता में निर्णय किया है।

ब्रह्मवाद और मायावाद में भेद

श्रीवल्लभाचार्य के द्वारा प्रतिपादित मत को ब्रह्मवाद कहते हैं और श्रीशंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित मत को हमारे यहां मायावाद कहते हैं। पाठकों के मनोरंजन के लिये यहां पर दोनों वाद के कुछ सिद्धान्त रखते हैं। इसके द्वारा वे आप ही अनुमान कर ले कि किसका मत ब्रह्म सूत्रों का प्रकृत अनुसरण करता है।

श्रीवल्लभाचार्य का ब्रह्मवाद

१– जगत् सत्य है और ब्रह्मस्वरूप है।जीव के द्वारा अहंता ममता कल्पित संसार मिथ्या है। यह जगत् विशेषतः दो प्रकार का है।

२– स्वप्न, मूर्ति आदि भगवद्विग्रहो में लौकिकता दीखना, गन्धर्व नगर, शुक्तिरजत आदि असत्य प्रपंच में नश्वरता आदि दिखना भी मायिक है।

३– पंचमहाभूत और उनसे बने हुए पदार्थ, वेद, स्वर्ग, मोक्ष आदि प्रपंच सत्य हैं और ब्रह्मात्मक हैं।

४– जीव ब्रह्मका ही अंश है।

५– जगत् का कर्ता अक्षर ब्रह्म है। वह अक्षर ब्रह्म माया अथवा अविद्या से रहित है और उसमें विरुद्ध अविरुद्ध सर्वशक्ति और धर्म रहते हैं अधिकारानुसार उस ब्रह्म की

श्रीशंकराचार्य का मायावाद

१– यह दृश्यमान् और श्रुत जगत् सब मिथ्या है। वेद, स्वर्ग, वैदिक कर्म और भक्ति सब मायिक हैं–मिथ्या हैं। अतः व्यवहार में किंवा अज्ञानावस्था में ही करने लायक हैं।

२– जीव ब्रह्म से कोई अलग पदार्थ अविद्या किंवा माया युक्त ब्रह्म को ही जीव कहते हैं। इसी से वह ब्रह्म का अंश जैसा है।

३– 'तत्त्वमसि' इत्यादि दस महावाक्यों का अर्थ जानने मात्र से 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूं यह ब्रह्मज्ञान होने पर फिर जीव के लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता।

४– जगत् का कर्ता मायिक ईश्वर है। ईश्वर के धर्म, रूप आकार प्रभृति सब काल्पनिक हैं। श्रीकृष्ण आदि उस मायिकब्रह्म के अंशावतार हैं।

अनेक स्फूर्ति होती हैं।

६– श्रीकृष्ण ही परात्पर निर्दोष आनन्दमायाकार और अप्राकृत सर्व गुण युक्त वस्तु है।

७– श्रीकृष्ण का साक्षात्कार,उन की सायुज्य प्राप्ति मिलनी, उनकी सेवा प्राप्ति और सेवा का अधिकार यही परम पुरुषार्थ किंवा पुरुषार्थ (मोक्ष) है।

८– मोक्ष का किंवा आनन्द प्राप्तिका एक मात्र उपाय भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करना ही है।

९– भगवान् के अनुग्रह से भी भक्ति किंवा अन्य फलों की प्राप्ति हो सकती है।

१०– श्रीकृष्ण की भक्ति करना ही जीव का मुख्य और निष्काम कर्तव्य है। यही जीव का धर्म है।

११– जितना और जब तक देहाध्यास बना रहे उतना और तब तक ही वर्णाश्रम धर्म अपने मानकर कर्तव्य हैं। अनन्तर तो एक मात्र भक्ति ही जीव का धर्म है। ज्ञानी को भी लोकसंग्रह के लिये शास्त्रोक्त धर्म कर्तव्य रहते हैं।

इसी से उनके आकार, उपदेश और स्वरुपादिक मायिक हैं।

५– स्वर्गादिक कोई सत्य पदार्थ नहीं हैं। कर्म कराने के लिये वेद में झूंठ मूंठ ही इन की लालच दी गई है। शुद्ध ब्रह्म निर्धर्मक, निर्विशेष और निराकार है।
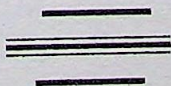
जगत्

हमारे सम्प्रदाय में जगत् को सत्य माना है और वास्तव में विचारवान् लोग देखेंगे कि हमारा यह सिद्धान्त कितना सच्चा है।

जगत् के सत्यत्व को बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र गीता में आज्ञा करते है–

''नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।''

अर्थात् जो पदार्थ मिथ्या है उसका तो भाव ही नहीं होता और जो सत् है उसका भाव हमेशा बना रहता है।

यह जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है इसलिये जिस प्रकार ब्रह्म सत्य है उसी प्रकार जगत् भी सत्य है।

छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि– ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानि– 'ति' अर्थात् यह सब दृश्यमान जगत् ब्रह्म रूप है। क्योंकि यह जगत् ब्रह्म में से ही उत्पन्न होता है। ब्रह्म में इसकी स्थिति है और एक दिन ब्रह्म में ही यह लय हो जाता है। अतः नामरूप सर्वजगत् ब्रह्मरूप है। अतः सत्य है।

''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' इस श्रुति में जो 'इदम्' शब्द का व्यवहार हुआ है वह समीपवाची और प्रत्यक्ष को कहने वाला है। अतः प्रत्यक्ष दीखता हुआ सर्व जगत् ब्रह्मरूप है। अतः सत्य है।

यह जगत् सनातन ब्रह्मरूप है यह बात उपनिषद् में श्वेतकेतु के उपाख्यान में कही है। वहां उद्दालक ऋषि कहते हैं–

सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।
तत्सत्यं यदिदं किं च तत्सत्यमित्याचक्षते ।।

अर्थात्– हे सौम्य ! इस प्रजा का मूल सद्‌रूप ब्रह्म है। इसका निवास स्थल भी ब्रह्म है और अन्त में इसकी गति भी ब्रह्म ही है इसलिये यह सत्य है।

वेद में कहा है–

कथमसतः सज्जायेत

अर्थात् असत्य से सत्य कैसे पैदा हो सकता है। ब्रह्म जब सत्य है तो जगत् भी सत्य है क्योंकि ब्रह्म में से ही जगत् मानेंगे तभी जगत् में आये हुए वेद, गुरु और उनके वाक्यों को भी हमें सत्य मानान पडेगा। अन्यथा यदि हम जगत् को

मिथ्या मानेंगे तो जगत् स्थित समस्त पदार्थ यहां तक कि वेद, शास्त्र, गुरु तथा उनके पवित्र और सत्य वाक्यों को भी हमें मिथ्या मानना पडेगा। तो फिर ऐसे असुदुपदेश से सद्रूप ब्रह्म की सिद्धि कैसे हो सकती है! ऐसे अनेक विचार हैं जिनके द्वारा जगत् को मिथ्या मानने में दोष आता हैं।

जगत् की सत्यता का प्रतिपादन करने वाला एक मनोहर और सुन्दर दृष्टान्त. छान्दोग्योपनिषद् के छठे प्रपाठक में आया है। वह यहां पर लिखा जाता है।

महात्मा उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु अपनी प्रथम यौवनावस्था में बडा अपढ था शुद्ध ब्राह्मण कुल में पैदा होकर भी वह ब्राह्मणोचिताचरणों से शून्य था। पिता को इस की इस दशा पर दुःख हुआ और एक समय मुनि ने इसे पास बुलाकर कहा 'वत्स ! आज से तू ब्रह्मचर्य धारण कर विद्याभ्यास कर। अपने कुल में अभी तक ब्रह्मबंधु या विद्या हीन कभी कोई नहीं हुआ है। इस लिये तुझे भी आचारनिष्ठ और विद्वान् होना योग्य है'।

पिता का यह उपदेश श्रवण कर श्वेतकेतु को ज्ञान हुआ और अपनी अवस्था पर एका एक लज्जा उत्पन्न हुई। उस समय उस की अवस्था थोडे वर्ष की थी किन्तु उत्तम ब्राह्मण संतान होने से बुद्धि का अभाव नहीं था। बारह वर्ष पर्यन्त उसने कठिन तप कर विद्या की उपार्जना की। जब वह चौवीस वर्ष का युवा हुआ तब उसने समग्र वेद, इतिहास, पुराण और दर्शन शास्त्र का अच्छी तरह से अभ्यास कर लिया था। इस समय उसे अभिमान हुआ और जितना कोई भी पढा नहीं है यह वह मानने लगा। उस की अवस्था देख पिता ने उस के अभिमान् की निवृत्ति करने के अर्थ पूछा—

यन्नु सौम्येदं महामना अनूचमानी स्तब्धोस्युत तमादेशमप्राक्षः ?
येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति।

ऋषि ने कहा 'हे सौम्य श्वेतकेतो ! तू जो यह मान रहा है कि मेरे सदृश विद्वान् और कोई नहीं है और इतना स्तब्ध और उद्धत हो गया है तो तू यह तो बता कि जिसके जानने से नहीं सुना हुआ भी सुना हुआ हो जाय, न माना गया हुआ निश्च्चय रीति से जाना जा सकता है'। पिता का यह प्रश्न सुन श्वेतकेतु विचार में पड गया और उसे अपने उद्धत स्वभाव पर बडा अफ़सोस हुआ। वह अपने पिता के पैरों पर गिर पडा और बोला— 'गुरो, मैं बडा मूर्ख हूं! मैने

अल्पाभ्यास करके ही यह जान लिया था मानों मैं सर्वज्ञ हो गया हूं। आज आपने मेरी आंखें खोल दी। मैं महा मूर्ख हूँ। कृपाकर मुझे इस बात का रहस्य बतलाइये'। पुत्र का यह विनय सुन ऋषि बोले–

''यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेनसर्वं मृण्मयं विज्ञातं भवति ।
वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' ।

अर्थात्– ''हे वत्स श्वेतकेतो ! जिस प्रकार माटी के एक पिण्ड को जान लेने से सर्व मिट्टी के पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। उसी प्रकार एक ब्रह्म को ही जान लेने से ब्रह्म में से उत्पन्न हुए सर्व कार्यरूप जगत् को जाना जा सकता है। मृत्तिका में से जो घट उत्पन्न हुआ है उसकी चौड़ाई और सकड़ाई रुप विकार है वह वाणी की क्रिया रूप ही है यह बात कुछ उसके विभिन्न आकारों से सिद्ध नहीं होती''। जिस प्रकार पुरुष बैठा हुआ हो, सोता हो, खडा हुआ हो वह भिन्न नहीं है उसी प्रकार भिन्न भिन्न अवयव रखकर मिट्टी भी भिन्न–भिन्न रूपों में बँटी हुई है। इसका अर्थ मृत्तिका से घडा अलग है यह नहीं होता। कारण रूप मृत्तिका से घटादिक कार्य भिन्न नहीं हैं। इसीलिये कहा गया है 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्'। इसलिये ब्रह्म में से जगत् की उत्पत्ति हुई है वह भिन्न–भिन्न प्रकार से केवल ब्रह्म ही है इसलिये ब्रह्म के सदृश ही वह सत्य है।

जगत् ब्रह्म से अलग नहीं है इसी को बताते हुए ब्रह्मसूत्र में भी कहा गया है–

'तदनन्यत्वमारं भणशब्दादिभ्यः'

अर्थात्– ब्रह्म से अनन्यत्व (एकता) जगत् को सिद्ध है। क्योंकि 'वाचारम्भणम्' इत्यादि श्रुतिओमें ब्रह्म से जगत् भिन्न नहीं है यह कहा गया है।

जगत् को असत्य मानना यह तो आसुरीसंपत् वालों का कर्तव्य है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने स्पष्टरीत्या कहा है–

'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्'।

अर्थात्– वे आसुर जीव जगत् असत्य है यह कहते हैं कितने ही कहते हैं जगत् स्थिति बिना का है और कितने ही कहते हैं जगत् का ईश्वर कोई नहीं है। अतः जगत् को असत्य मानना विचारशीलों का मन्तव्य नहीं है। वैष्णव जगत् को सत्य मानते हैं।

जिस प्रकार जीव ब्रह्म का एक अंश है उसी प्रकार पृथ्वी जल वायु आकाशादि भी ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं। जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है इस विषय में मुण्डकोपनिषद् में कहा है–

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्।।

अर्थात्– जिस प्रकार मकडी जाल फैलाती है और अपनी इच्छानुसार ही उसे समेट भी लेती है अथवा जैसे पृथ्वी में औषधी पैदा होती हैं। जिस भांति जीवित मनुष्य के केशलोमादि उत्पन्न होते हैं वैसे ही अक्षर ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न होता है।

नामरूपात्मक सारा जगत् ब्रह्म ही है। ब्रह्म जगत् को उत्पन्न करता है मानो स्वयं उत्पन्न किया जाता है। वही रक्षा करता और वही मानों रक्षित भी जगत्रूप से होता है। अपनी इच्छा से वह जगत् का संहार करता है। मानो आप ही संहार किया भी जाता है। शास्त्रों से जाना जाता है कि ब्रह्म को रमण की इच्छा हुई और रमण अकेले नहीं हो सकता इसीलिये एक खिलौना भगवान् ने बनाया। बस वही जगत् हो गया।

भगवान् के तीन अंश हैं सत्, चित्, और आनन्द। जो पदार्थ ब्रह्म के सदंश में से निकलते हैं लोक में वे जड़ पदार्थ कहते हैं। जो चिदंश में से निकलते हैं वे जीव होते हैं और जो उनके

आनन्दांश में से निकलते हैं वे अंतर्यामी होते हैं। इन सभी की अभिव्यक्ति सत्यरूप ब्रह्म में से होती है। इसलिये वह सत्य है। इसलिये यह जगत् भी असत्य नहीं हो सकता।

आविर्भाव और तिरोभाव ये परब्रह्म की दो शक्तियां हैं। जब परब्रह्म की आविर्भाव शक्ति की क्रिया चलती है उस समय जगत् अस्तित्व में आता है। जब ईश्वर की तिरोभाव शक्ति क्रियावती होती है उस समय केवल भगवान् ही अवशिष्ट रहते हैं। जगत् ब्रह्म में लीन हो जाता है।

जगत् तीनों काल में सत्य है इसीलिये उसे ब्रह्मत्व है और 'सत्त्वाच्चावरस्य' इस सूत्र में यह भली भांति प्रमाणित हो जाती है। श्रुति में भी कहा है–

'**सदेवसौम्येदमग्र आसीत्।**' **तैत्तिरीयोपनिषद्** में भी कहा है– '**यदिदं किंच तत्सत्यमित्याचक्षते।**' अर्थात्–यह नामरूपात्मक जगत् प्रथम सत्य ही था और अब भी जो कुछ है वह सब सत्य है। इन श्रुतियों से हम भली भांति जान सकेंगे कि जगत् पूर्व में भी सत्य था वर्तमान् में भी सत्य है और भविष्य में भी सत्य ही रहेगा। जगत् के विषय में भ्रान्ति रहने पर ही उस में विकार दिखलाई देता है। वास्तव में वह विकारवान् नहीं है। केवल आविर्भाव और तिरोभाव की शक्ति वही उस में जन्म और मरण की भ्रान्ति करती है। इसलिये जिस जगत् को श्रुति, स्मृति और पुराण सत्य कहते हैं उसे हम असत्य नहीं कह सकते।

जीव, ईश्वर और जगत् ये व्यवहार दशा में ही सत्य हैं यह कहने से उन का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। जो ईश्वर परमार्थ दशा में सत्य न होता तो उसका भजन करने से अथवा उस की उपासना करने से कोई भी लाभ नहीं हो सकता था। फिर भक्ति और श्रद्धा के दृढ होने का भी कोई उपाय नहीं था।

ब्रह्मवाद के सूत्र और उनके अर्थ

१– ''ब्रह्म सर्वज्ञ है।''

२– ''जीव अल्पज्ञ, अणु और ईश्वर का ही अंश है।'' भाष्य– जीव ईश्वर का ही अंश है तथापि जब वह जीवलोक में आता है तथा जब जीव प्रत्यक्ष रूप से ब्रह्म से अलग होता है तब वह यहां 'जीवभूत' कह लाता है और उस में नाना प्रकार के दोष आ जाते हैं। जीव ब्रह्म का ही एक अंश है तथापि वह अपने अंशी को देखने में असमर्थ है। क्योंकि ब्रह्म तिरोभूत हो कर स्थित है। जिस प्रकार वायु सर्वत्र व्याप्त है तथापि वह गर्मी को तब तक दूर नहीं कर सकती जब तक पंखा अथवा ऐसे ही और साधनों द्वारा उसका जीव की अविद्या का नाश हो जाता है और जब वह दोष निवृत्त हो जाता है। तब उसका ज्ञान ब्रह्म को प्राप्त हो सकता है। श्रुति में भी कहा है– ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां। परमे व्योमन्। सोश्नुते सर्वान्कामान्। सह बह्मणा विपश्चिता।। ''ब्रह्म को जिसने ज्ञान लिया वही ब्रह्म को प्राप्त करता है''। ''सत्यं शिवं सुन्दरं सुप्तं'' ऐसे ब्रह्म को जिसने जान लिया वह ब्रह्म के साथ सर्व कामों का उपभोग करता है। किन्तु ब्रह्म को जान लेना ही बडा दुरूह है। ब्रह्म माया के परदे में ढंका रहता है। इसीलिये जीव के लिये वह दुर्लक्ष्य है।

३– ''ब्रह्म अपरिमेय और अज्ञेय है। दुर्गम्य भी है किन्तु अनुग्रहैक गम्य भी वही हैं।''

भाष्य–शास्त्रों को और वेदों को जिनने पढा है कि वेदो में ब्रह्म कितना अपरिमेय और अज्ञेय है। ब्रह्म की इयत्ता करने में शास्त्र भी अपनी सामर्थ्य नहीं रखते। बड़े–बड़े ऋषि मुनि गण भी जिसके जानने में हजारों वर्ष की समाधि लगाते हैं किन्तु जिसे वे जान नहीं सकते ऐसा ब्रह्म अपरिमेय और अज्ञेय है। नारद प्रभृति महामहा मुनीश्वर जिसके जानने के लिये तरसा करते हैं वे ही भगवान् व्रज में बहुत ही सरल रीति से जाने जा सके हैं। यह है भगवान् का अनुग्रहैकगम्य होना। शास्त्रों में लिखा है कि ब्रह्म के डर से सूर्य उदय होता है। उसी के डर से वायु चलता है और उसी के इशारे से सब देवता अपने–अपने

कार्य करते हैं और तो क्या जिसका उपसेचन (लगावन) मृत्यु है वही ब्रह्म अनुग्रह के वश हो नंदरानी से बद्ध हुआ भी व्रज में कभी विराजता है। क्या कहें– शेष, महेश, सुरेश, गणेश, दिनेश प्रभृति देवाधिदेव जिनकी अशेष मुख हो रात्रि दिन स्तुति किया करते हैं, जिनके लिये वेद और शास्त्र, पुराण और इतिहास, दन्तकथाएं और विविध कथानक–अपरिमेय, अचिन्त्यमहिमाशाली और अद्भुत शक्तिशाली बताते हैं वे ही ब्रह्म व्रज में आकर एक अंजलि छाछ के लिये गोपियों के आगे नृत्य कर रहे हैं! क्या कहें ? किसके आगे कहे ? हमारी यह बात कैसे मानी जायगी कि वही वेदों का सर्वसामर्थ्य सम्पन्न ब्रह्म व्रज में एक थोडे से दही के लिये मा को बुलाता हुआ रो रहा है! यह सब बिना भगवान् की कृपा के कहाँ साध्य है। श्रुति भी स्पष्ट कह रही हैं–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः तस्यैषात्मा वृणुते तनुं स्वाम्।।

अर्थात्– यह ब्रह्म प्रवचन से लभ्य नहीं है न अपनी बुद्धि से ही इसे वश कर सकते हैं। न इस ब्रह्म को वश करने में बहुत पढना लिखना पडता है और न अपने बल पर विश्वास रख कर ही कोई इसे प्राप्त कर सका है। जिस पर इनकी कृपा होती है वही इन को प्राप्त कर सकता है। अपना बल यहां कुछ काम नहीं आता।

भगवान् भक्त के कितने वश्य हैं इसका एक उदाहरण हम यहां देंगे। व्रजभूमि की बात है भगवान् श्रीकृष्ण उस समय चरणों से चलने लग गये थे। बालकों में जैसी चंचलता और अबाध्यता होती है भगवान् में शायद उससे हजार गुनी अधिक थी। वे कभी छाछ और माखन की हांडी फोड़ते थे तो कभी घडा भरा हुआ जल बिछौनो पर उड़ेल देते थे। कभी नंद बावा की सूखी हुई धोती कीच में डाल देते तो कभी उनकी खडाऊं छिपा आते। नन्द बावा कभी इनके इस उत्पात पर इनका चुंबुन करते, कभी इनके सुकोमल गालों पर एक थपकी धर देते और कभी झूठ मूंठ लड़ देते। पिता का क्रोध वे जानते थे कि पानी से पतला है किन्तु माता यशोदा से वे हमेशा डरते रहते थे।

एक दिन श्री यशोदा अपने पुत्र को गोद में लेकर स्तन पान करा रही थी। सामने के मकान में दूध गरम हो रहा था। थोडी देर में दूध उफन ने लगा तो श्रीयशोदा श्रीकृष्ण को वहीं छोडकर दूध को सम्हालने चली गई। यह बात

श्रीकृष्ण को अच्छी नहीं लगी उन्होंने लुढिया लेकर छाछ के माट पर देमारी। छाछ बिखर गई। अब लगा डर सो आप भाग चले। इतने में माता आई। सारे घर में छाछ ही छाछ देख अपने पुत्र का यह सुकार्य है यह समझ लिया। इधर कृष्ण ने एक और उपद्रव तैयार कर दिया। यशोदा जिस छाछ को बिलोती २ बछिया बांधने गईं थी उसी छाछ को आपने लुढका के बिखेर दी। माँ ने आकर देखा तो उनके क्रोध का पार न रहा। माता ने शिशु को आज उचित शिक्षा देना ठान लिया और इनके हाथ पैर बांधने के लिये एक रस्सी का टूक ले इनके पीछे पकडने को दौडी।

तमाशा तो देखिये ! जिस अचिंत्य स्वरूप को पकडने में बडे २ देवता, बडे २ राक्षस और बडे २ योद्धा भी असमर्थ हुए हैं उसे पकडने के लिये बिचारी एक निरीह असमर्थ और क्षुद्र गोपी प्रयत्न कर रही है! भगवान् ने एक लता के दो तीन चक्कर लगाये। किन्तु जब देखा कि मा थक गयी है तब आप ही अनुग्रह करके पकड़ लिये गये। ''यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः''।

माने अब उन्हें बांधना शुरु किया किन्तु अरे! यह क्या! भगवान् तो बंधे ही नहीं ! रस्सी छोटी हो गई ! गोपी ने एक रस्सी और जोडी। फिर भी वह छोटी हो गई ! दूसरी और जोडी किन्तु वह भी छोटी ! गोपी ने विचारा कि यह क्या बात हुई। मेरे लाल के एक मुठ्ठी में आ जाने वाले हाथ एक कुए में पहुंचने वाली रस्सी से भी नहीं बांधे जा सकते हैं यह हुआ क्या?

भगवान् ने जब यह देखा तब उसकी दशा पर दया आ गई और सबको बांधने वाले भी बँध गये!

यह अर्थ उस वेद की ऋचा का है जिसमें ब्रह्म अनेक ब्रह्माण्ड से भी महत् बतलाया जाकर अणु से भी अणु बतलाया गया है। वेदों में प्रतिज्ञा हैं, और उदाहरण हैं श्रीमद्भागवत में।

४– ''ब्रह्म सर्व धर्मों का केन्द्र है।'' भाष्य– कितने ही वादी ब्रह्म को निधर्मक निर्विशेष, निराकार और निर्गुण मानते हैं। श्रीवल्लभाचार्यजी सूत्रकार के मतानुसार 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' 'सर्वोपेता च दर्शनात्' इत्यादि तत्त्व सूत्रों का अवलंबन कर ब्रह्म को सर्व धर्मों का केन्द्र मानते हैं। ब्रह्म में नियतवाद स्थापन करने से ब्रह्म में इयत्ता आ जाती है। उसी प्रकार ब्रह्म को अत्यन्त

निर्गुण मानने से भी उस का ज्ञान होना भी असम्भव हो जाता है और इससे शास्त्र मात्र वृथा हो जा सकते हैं। इसलिये श्रुति स्मृति, सूत्र, पुराण और इतिहास इनकी एकवाक्यता कर ब्रह्म को अपने सर्व धर्मों का केन्द्र सिद्ध किया है।

५– ''ब्रह्म सर्वसामर्थ्यसम्पन्न ईश्वर है और वही परमतत्व भगवान् श्रीकृष्ण हैं''।

६– ''ब्रह्म सर्व विरुद्ध धर्मों का आश्रय है।''

वेदो में लिखा है–

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः'।

अर्थात्– 'ब्रह्म के (प्राकृत) पैर नहीं हैं तथापि वह दौड़ सकता है, उसके हाथ नहीं हैं तथापि वह ग्रहण कर सकता है। उसके आंख नहीं है तथापि वह देखता है, कान नहीं हैं तथापि वह सुन सकता है।' यह है ब्रह्म के विरुद्ध धर्मों के आश्रय होने का प्रमाण।

वह निर्धर्मक है तथापि वह सधर्मक भी है। निराकार भी होकर वह साकार सतत सिद्ध है। निर्विशेष हो कर भी वह सविशेष है। निर्गुण है तथापि वह सर्व गुण है। अणु से अणु भी वही होता है और महान् से महान् भी वही हो जाता है।

७– 'ब्रह्म निर्दुष्ट है।' भाष्य– जीव स्वभाव से दुष्ट होते हैं। किन्तु स्वरुप से वे निर्दुष्ट होते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के सिवाय सच पूछा जाय तो निर्दुष्ट पदार्थ कोई है ही नहीं। श्रीमहाप्रभुजी ने भी कहा है– कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्।

८– ''ब्रह्म सर्व सद्‌गुण संयुक्त है''। वह स्वतन्त्र और अप्राकृत शरीरवत् ज्ञान से दृश्य है। उसमें प्राकृत शरीर के कोई गुण नहीं हैं।

९– ''ब्रह्म पूर्णानन्द है।''

१०– 'ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप है' वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है, सर्वव्यापक और अव्यय है। वह अनन्तमूर्ति है। कूटस्थ है और अचलायमान है।

जीव

जीव ब्रह्म का ही अंश है। किन्तु वह सम्पूर्ण ब्रह्म नहीं है इसलिये 'अहं ब्रह्मास्मि' इस का अर्थ 'मै ब्रह्म का एक अंश होने से ब्रह्म हूं' यह होता है। जीव बाल की नोंक का भी शतांश है। किन्तु फिर भी चैतन्य गुणयुक्त होने के कारण वह सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है और उस का प्रकाश सारे शरीर में फैल जाता है। निबन्ध में आचार्यचरण ने आज्ञा की है–

जीवस्त्वाराग्रमात्रो हि गंधवद्यतिरेकवान्।
व्यापकत्वश्रुतिस्तस्य भगवत्त्वेन युज्यते ।।

जिस प्रकार दीपक एक जगह रक्खा होने पर भी उस का तेज चारों तरफ फैला हुआ रहता है अथवा जिस प्रकार पुष्प अत्यन्त छोटा होने पर भी उसकी गन्ध सर्वत्र फैल जाती है वैसे ही जीव की स्थिति एक जगह होने पर भी उस का चैतन्य सारे शरीर में फैल जाता है। जब जीव में ब्रह्म का आविर्भाव होता है तभी 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' इस वाक्य में कहा हुआ सर्वगतत्व जीव में आ जाता है। लोहे के गोले को तपाने से उसमें दाहकत्त्व आ जाता है। यह जला देने की शक्ति लोहे में नहीं है किन्तु आगन्तुक है। अग्नि की ही है। इसी तरह जीव में भगवान् का आविर्भाव होने से उसमें व्यापकत्व आ जाता है। यह व्यापकता जीव की नहीं ब्रह्म की है।

कितने ही दार्शनिक यह भी कहते हैं कि यदि जीव शरीर के बराबर न हो तो शरीर में चैतन्य का बोध नहीं होता। परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि यदि हम यह मान लें कि जीव की भी वृद्धि और क्षीणता माननी होगी। देह के कुछ भाग का नाश होने पर जीव का भी कुछ भाग नष्ट हो जायगा और शरीर की अनित्यता के साथ जीव की भी अनित्यता माननी पडेगी। इसलिये मानना पडेगा कि जीव शरीर के बराबर नहीं है।

कितने ही जो यह कहते हैं कि जीव व्यापक है यह बात भी सिद्ध नहीं होती। मानलो दुलारेलाल, शिवप्रसाद गुलजारीलाल, द्वारकाप्रसाद ये सब जीव हैं। यदि जीव व्यापक हो तो एक दूसरे को अपने आप यह ज्ञान हो जायगा कि

अमुक मनुष्य क्या कर रहा है या क्या सोच रहा है? किन्तु ऐसा नहीं होता इसलिये यह मानना भी ठीक नहीं है।

जब जीव में ब्रह्म का आनन्दांश प्रकट होता है तब उसे सब कुछ अपरोक्ष हो जाता है। वेदों में कहा है। ''ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति।'' यह ब्रह्मत्त्व आनन्दांश के अभिव्यक्त होने से होता है। सर्व अप्राकृत गुणों का और परस्पर विरोधी धर्मों का आश्रय होना आनंदांश का धर्म है। जीव का चैतन्य गुण प्रकाश करने वाला है और इसी गुण के तेजमय ज्योति कहा जाता है। यह ज्योति ब्रह्म की है।

जीव में रूपादि का अभाव है। यही कारण है कि प्राकृत इन्द्रियों से उसका ग्रहण नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ बाहर की ओर गमन करने वाली हैं इसलिये वे अन्तरात्मा को नहीं देख सकती। जीव को देखने के साधन तीन प्रकार के हैं योग, दिव्यदृष्टि और ईश्वर का अनुग्रह।

यह जीव प्रभु का ही अंश है। गीताजी में कहा है– **'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'** इस श्लोकार्ध में प्रभु ने जीव को अपना अंश स्वीकृत किया है। चिदंश से जीव की व्यक्ति हुई है। यह जीव शास्त्र में दो प्रकार का गिना गया है। जगत् में आने से और प्राणाध्यासादि (भूल को ही अध्याय. कहते हैं) आजाने से उसे ब्रह्म न कह कर जीव कहा जाता है। यहां दोषादिक आजाने से उस का आनन्दांश तिरोहित हो जाता है। यहां तक कि अपने मूलस्वरूप को बिलकुल ही भूल कर बुरे भले काम करने लग जाता है। इसीलिये सुख दुःख के फल भी जीव को भोगने पडते हैं। ब्रह्म को नहीं। यह जीव जगत् में आकर अनेक सुख की आशाओं में फँसकर अध्यास (भूल) का भागी बनता है। दश प्रकार के प्राणों को, इन्द्रिय और अन्तःकरण को, अथवा देह को ही अपना स्वरूप समझना यह भूल और जिससे अपने स्वरूप की विस्मृति हो जाती है यही अविद्या है। जीव का आनन्दांश, जगत् में आने पर तिरोहित हो जाता है अतः जीव निराकार है। निरैश्वर्य है इसे आत्मा भी कहते हैं और इसका परिमाण अणु है अर्थात् है।

जीव के तीन भेद हैं। संसारी जीव, मर्यादा जीव और अनुग्रह जीव। यह तीन तरह के जीव विविध प्रकार की भगवदिच्छा से ही जगत् में पैदा होते हैं। पहली प्रकार के जीव जगद्रूप भगवान् से द्वेष करते हैं और प्रवृत्ति निवृत्ति आदि का उन्हें

ज्ञान नहीं होता इसलिये जन्म मरणादि के भय को ही भोगा करते हैं। इन्हें आसुरी जीव, संसारी जीव और चर्षणी कहते हैं। प्रपंच का बोझ बढ़ाने के लिये अथवा जगत् का खेल बढता रहे इसीलिये इनकी उत्पत्ति हुई है।

दूसरे प्रकार के जीव वे हैं जिन को सुख की प्राप्ति स्वर्ग और मोक्ष के द्वारा होती है। अथवा जिन्हें वैदिक साधनों को संपादित करने की अनुकूलता मिली है उन्हें मर्यादा जीव कहते हैं। इन में से कितने ही जीव अपने विचित्र साधनों द्वारा स्वर्गादि लौकिक सुख को प्राप्त होते हैं। कितने ही सुख की प्राप्ति करते हैं कितने ही दुःखाभावरूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

तीसरे प्रकार के जीव वे हैं जिन्हें प्रभु का पूर्ण अनुग्रह प्राप्त हुआ है। जिनका प्रभु में दृढ विश्वास और प्रेम होने से त्रैवर्गिक साधनों में मन नहीं फँसता। वे जीव नाम सेवा में ही मग्न रहते हैं तथा स्वरूप सेवा को ही अत्यन्त प्रेम पूर्वकं अपनी दोनो सायुज्य मुक्ति का प्रधान मार्ग समझते हैं। उन्हें अनुग्रह सम्बन्धी या पुष्टिमार्गीय जीव कहते हैं। इन के यहां लीला प्राप्ति को ही मोक्ष कहा है।

जीव के लिये श्वेताश्वतर में कहा है–

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितोयः ।
बुद्धेर्गुणेनाऽऽत्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोपि दृष्टः।।

अर्थात्– जो जीव बुद्धि के गुण से संकल्प और अहंकार युक्त है और स्वयं सूर्यवत् प्रकाशित् है। अंगुष्ठवत् है और आराग्र मात्र है वह जीव ज्ञानचक्षु से भिन्न भी देखा गया है।

'अंशो नानाव्यपदेशात्' इस सूत्र से भी जीव ब्रह्म का ही अंश है यह सिद्ध होता है इसलिये उसे बुद्धि उपाधि परिकल्पित मानना भूल से खाली नहीं है। जीव जब जगत् में आता है तब उसे देहप्राणाध्यास वश पांच प्रकार के दोष घेर लेते हैं। वे दोष ये हैं– सहज दोष, लोक और वेद में निरूपित देशोत्थ दोष, कालोत्थ दोष, संयोगज दोष और स्पर्शज दोष। उनके स्वरूप ये हैं–

सहज दोष–जो दोष जन्म से ही उत्पन्न हुआ हो उसे सहज दोष कहते हैं। अहंता ममता और स्त्री, शूद्र, चाण्डाल इत्यादि हीन योनि में जन्म होना इसे सहज दोष कहते हैं। मनुस्मृति इत्यादि

शास्त्रों में स्त्रीशूद्रादि को उपनयन या वेदाध्ययन के योग्य नहीं समझे हैं। बीज दोष या गर्भ दोष, इनको भी सहज दोष कहा गया है।

देशोत्थ दोष– जिस देश में कृष्णमृग रहता है उस देश को यज्ञ करने लायक समझा गया है। जहां कृष्णमृग अपनी इच्छा से निवास नहीं करता वे सब देश म्लेच्छ देश गिने गये हैं। मगध, मारवाड़ या बंग ये सब अयज्ञीय हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इनको यज्ञ करने लायक स्थलों में ही रहना चाहिये यह शास्त्रोपदेश है। इसलिये अपवित्र या अयज्ञीय स्थलों में रहने से या उत्पन्न होने से देशोत्थ दोष लगता है।

कालोत्थ दोष– कलिकाल, दुष्ट मुहूर्त इत्यादि काल से उत्पन्न दोषों को कालोत्थ दोष कहा गया है। वर्षा काल में अथवा प्रदोष में वेद पढ़ने का निषेध है यह कालोत्थ दोष के लिये है।

संयोगज दोष– संग दोष अथवा पतित पुरुषों के समागम से उत्पन्न हुए दोषों को संयोगज दोष कहते हैं।

स्पर्शज दोष– अस्पृश्यों के स्पर्श करने से जो दोष होता है उसे स्पर्शज दोष कहते हैं।

जीव जब जगत् में आता है तब से ही पांच दोष उसे घेरे रहते हैं और इससे वह अपने मूल स्वरूप से विस्मृत रहता है। किन्तु ब्रह्मसम्बन्ध लेने से उन पांचों दोषों की निवृत्ति हो जाती है। यह बात ब्रह्मसम्बन्ध का माहात्म्य जान लेने से भलीभांति विदित हो जाती है।

श्रीविट्ठलेशप्रभुचरण

वल्लभवर के तनय प्रसारक पुष्टिमार्ग के,
विद्वानों के मौलिमुकुट तत्त्वज्ञ धर्म के ।
भक्तों के आराध्य विदारक आसुर मत के,
हरिपदपंकज[illegible]विमोहित [illegible] भ्रमर थे ।।

-व्रज॰

श्रीविट्ठलनाथजी प्रभुचरण

श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्य के यहां दो बालकों का प्राकट्य हुआ था। उनमें ज्येष्ठ पुत्र का नाम गोपीनाथजी था। इन के वंश ने अपनी लीला बहुत स्वल्प काल में ही संवरण करली थी। द्वितीय पुत्र श्रीविट्ठलनाथजी थे। इनको वैष्णवगण प्रभुचरण भी कहते हैं तथा ये श्री गुसांईंजी के नाम से सर्वसाधारण में प्रसिद्ध हैं।

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के चरित्र का अनुसन्धान करने के लिये प्रचुर सामग्री उपलब्ध हैं। किन्तु श्रीमद्विट्ठलनाथजी के .चरित्र लिखने वाले को एक यह बडी भारी आपत्ति आ पड़ती है कि उनके चरित्र पर प्रकाश डालने वाला एक भी स्वतन्त्र प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है। तथापि 'वह्निसूनुस्तव' इत्यादि ग्रन्थों की सहायता लेकर यहां कुछ लिखा जा रहा है।

श्रीविट्ठलेश प्रभुचरणों का प्रादुर्भाव संवत् १५७२ पौष कृष्ण नवमी के शुभावसर पर हुआ था।

इसके पहले कि हम श्रीविट्ठलनाथजी के चरित्र के विषय में लिखें हम 'विट्ठल' इस शब्द की व्युत्पत्ति और उसका अर्थ कर देना योग्य समझते हैं जिससे कि पाठकों को आपके चरित्र को समझने में सहायता मिले।

'विट्ठल' वाच्य शब्द में सम्प्रति तीन अक्षर हैं 'विद्' 'ठ' और 'ल'। 'विद्' अर्थात् विदा–ज्ञान के द्वारा, 'ठान्' अर्थात् शून्यान्–शून्यको–मूखर्ता को–अज्ञान को, 'लाति' दूर करे अर्थात् जो ज्ञान के द्वारा अज्ञान को दूर करे और अपना दास बनाकर स्वीकार करे वह 'विट्ठल'। वैष्णवों के अज्ञानांधकार को श्रीविट्ठलनाथजी ने दूर किया है इस लिये आप 'यथा नाम तथा गुणः' हैं।

आपके प्रादुर्भाव का कथानक भी भक्तों की भावनाओं से संवलित है। कहा जाता है कि पंढरपुर के श्रीपांडुरङ्ग विट्ठलनाथजी ने श्रीमहाप्रभुजी को एक बार आज्ञा की कि 'आप विवाह कीजिये मुझे आपके यहां प्रकट होना है'। तदनुसार श्रीमहाप्रभुजी ने काशी के देवभट्ट की कन्या अक्काजी श्रीमहालक्ष्मी के साथ विवाह किया। आपके यहां संवत् १५७० के आश्विन शुक्ल दशमी के दिन श्रीगोपीनाथजी का प्राकट्य हुआ था।

इसके दो वर्ष के अनन्तर अर्थात् १५७२ में ही काशी के पास आये हुए गांव चरणाद्रि–चुनार–में आप श्री ने श्रीमहाप्रभुजी के यहां पुत्र होकर जन्म ग्रहण किया था। आपके अग्रज श्रीगोपीनाथजी बड़े विद्वान् और अनन्य भक्त थे। दुःख की बात है आप का वंश चला नहीं। वर्तमान् समस्त गोस्वामी बालक श्रीविट्ठलनाथजी के वंशज हैं।

आपकी बालावस्था अपने पिता की सुशीतल छाया में व्यतीत हुई थी । आपश्री की अवस्था जिस समय पन्द्रह वर्ष की हुई उस समय श्रीमहाप्रभुजी अपने धाम को पधारे थे किन्तु इतने से ही समय में श्रीविट्ठलनाथजी प्रौढ़ विद्वान् हो चुके। फिर भी आप अध्ययन में अभिवृद्धि ही करते रहे और अपने उस अध्ययन के फल को आपने ऐसे कार्य में नियोजित किया जिससे सम्प्रदाय आज भी अपनी अभिवृद्धि कर रहा है।

यद्यपि श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु ने तीन बार पृथ्वीप्रदक्षिणा कर वादियों को परास्त कर ब्रह्मवाद का मंडन किया था तथापि संप्रदाय का वह प्रारम्भ काल था और उसके अनुयायी बहुत स्वल्प थे। किन्तु श्रीविट्ठलनाथजी प्रभुचरण ने संप्रदाय को अपने ही समय में बहुत व्यापक बना दिया था। आपके समय में संप्रदाय खूब व्यापक हुआ इसका एक कारण यह भी था कि आपने क्रियात्मक सेवा पद्धति का प्रचलन संप्रदाय में किया था। इसके अतिरिक्त संप्रदाय की व्यापकता का कारण यह था कि अपने सद्वादयुक्त विद्वन्मण्डन, भक्तिहंस, भक्ति हेतु निर्णय आदि ऐसे विद्वत्ता पूर्ण ग्रन्थों की रचना की जिससे मतान्तर के विद्वानों पर भी इनका खूब असर पड़ा।

शास्त्रोक्त विधिका अनुसरण कर श्रीमहाप्रभुजी ने काशी के समीपस्थ चुनारगढ में दोनों कुमारों का श्रीविट्ठलनाथजी एवं श्रीगोपीनाथजी का, यज्ञोपवीत महोत्सव किया था। यज्ञोपवीत संस्कार के अनन्तर काशी के मधुसूदन सरस्वती नामक प्रसिद्ध सन्यासी के पास विद्याध्ययन की आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी ने विट्ठलनाथजी को दी थी। –पु.मा.इ.।

श्रीविट्ठलनाथजी ने अपनी कुशाग्र बुद्धि के द्वारा वेद एवं वेदाङ्गों का अध्ययन अपनी स्वल्पावस्था में ही समाप्तप्राय कर दिया था। किन्तु आपको अपने अध्ययन काल ही में पितृवियोग सहन करना पड़ा था।

आचार्य चरण के आसुर व्यामोह के अनन्तर आप अडेल में आकर विराजे। वहां ही प्रभु की सेवा में अपना काल यापन करने लगे। आगत जिज्ञासु वैष्णवों को अपने वचनामृतों का आस्वादन करा कर कृतकृत्य करते। शास्त्रार्थ के अर्थ आनेवाले पण्डितराजों से शास्त्रार्थ कर उन्हें अपनी अप्रतिम विद्याबुद्धि से पराजित करते। अनेक पंडित आपश्री के अपूर्व पाण्डित्य, वेद सिद्ध अद्भुत युक्ति एवं निजपक्ष के समर्थन की अगाध बुद्धि को देख मुग्ध बन जाते थे।

आप श्री ने अडेल में रहकर पितृचरणों के अपूर्ण रहे हुए ग्रन्थों को पूर्ण करना विचारा था। ब्रह्मसूत्र पर पितृचरण प्रणीत अणुभाष्य के अन्तिम भाग को लिख कर उसे पूर्ण किया। तत्त्वदीप निबन्धान्तर्गत भागवतार्थ प्रकरण का प्रकाश जिसे श्रीमहाप्रभुजी तृतीयस्कन्ध तक लिख सके थे उसे आप श्री ने पंचम स्कन्ध तक लिख डाला। इसी प्रकार श्रीमहाप्रभुजी द्वारा रचित सुबोधिनी षोडशग्रन्थ आदि अनेक ग्रन्थों की विशेष टीका कर वैष्णव सृष्टि को कृतकृत्य की थी।

श्रीगुसांईजी खूब प्रौढ विद्वान् थे। यही नहीं किन्तु आप व्यवहार दक्ष एवं असाधारण थे। आप की व्यवहार दक्षता का दिग्दर्शन हमें आपके द्वारा प्रचलित सेवा पद्धति से होता है। इस समय भारतवर्ष में अनेकानेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं। किन्तु कहीं भी, किसी संप्रदाय में ऐसी परिष्कृत सेवापद्धति प्रलित नहीं है।

श्रीगुसांईजी ने दो विवाह किये थे। प्रथम विवाहिता पत्नी का नाम श्रीरुक्मिणी बहूजी था। आपने द्वितीय विवाह गढा की रानी दुर्गावती के आग्रह से सागर में श्री पद्मावती बहूजी के साथ किया था।

प्रथम पत्नी से आपको श्रीगिरिधरजी, श्रीगोविन्दरायजी, श्रीबालकृष्णजी, श्रीगोकुलनाथजी, श्रीरघुनाथजी एवं श्री यदुनाथजी इस प्रकार छः पुत्र रत्नों की प्राप्ति हुई थी। श्रीपद्मावती बहूजी द्वारा श्रीघनश्यामजी प्रकट हुए थे सम्प्रति जितने गोस्वामी यहां विराजमान हैं वे सब श्रीगिरिधरजी और श्रीयदुनाथजी के वंशज हैं। अवशिष्ट पुत्रों का वंश चला नहीं है।

श्रीविट्ठलनाथजी ने ही सर्व प्रथम "गोस्वामी" शब्द धारण किया था। आपने अपने समय में ही अपने प्रभाव का सुखानुभव कर लिया था। आपके प्रभाव से प्रभावान्वित हो अनेक राजा महाराजा आपके शिष्यत्व को प्राप्त हुए थे। आपके लिये जो 'अनेकक्षितिपश्रेणिमूर्धासक्तपदाम्बुज' विशेषण व्यवहृत हुआ है वह यथार्थ है।

आप गान्धर्व शास्त्र के भी प्रशंसक थे। किन्तु अन्यथा रीति से उसका उपयोग करना अनुचित जान आपने इसे भगवत्सेवा में विनियोग किया। आपने स्वयं भी श्री के आगे गाये जाने के लिये विविध गीतिकाओं का निर्माण किया।

एक समय आपको श्रीनाथजी का वियोग भी सहन करना पड़ा था। श्रीनाथजी के अधिकारी श्रीकृष्णदास को एक समय गर्व आया। उसने श्रीगुसांईजी के गृह के वहां दर्शन बन्द कर दिये। आपको बडा दुःख हुआ। श्री का एक क्षणिक वियोग भी आपके लिये दुस्सह था। आप बडे दुःखित हुए और इसी दुःख के प्रवाह को आपने ''विज्ञप्ति'' के द्वारा प्रकट किया है। आप प्रत्येक दिन एक विज्ञप्ति लिख कर श्री के चरणारविन्द में अर्पण किया करते। प्रभु की सेवा के वियोग में भक्त की कैसी दशा हो जाती है यह विज्ञप्तियों के पढ़ने से विदित होगा। आपको यह तापक्लेश का अनुभव छः मास पर्यन्त रहा था।

आपने संप्रदाय को सम्मान्य और दृढ करने के हेतु निम्नलिखित ग्रन्थों की भी रचना की थी ।

१– अणुभाष्य (शेष)– ''फलमत उपपत्तेः'' इस सूत्र से लेकर शेष पर्यन्त आपकी रचना है।

२– विद्वन्मण्डन– वाद में अत्यन्त उपयोगी विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ। आपनें इसकी रचना स्वयं ही एकान्त में बैठ कर नहीं की किन्तु अपने पुत्रों को सन्मुख बैठाकर की थी। वे वाद करते जाते थे और आप उनका यथोचित उत्तर लिखते जाते थे। ऐसा ऐतिह्य है।

३– शृंगाररस मण्डन।
४– सुबोधिनी की टिप्पणी।
५– भक्ति हंस
६– भक्ति हेतु निर्णय
७– यमुनाष्टक टीका
८– नवरत्न टीका
९– सिद्धान्तमुक्तावली टीका
१०– न्यासादेश;

२८– स्वामिनी स्तोत्र
२९– दानलीलाष्टक
३०– रससर्वस्व
३१–प्रबोध
३२– रक्षास्मरण
३३– द्वितीय चतुःश्लोकी
३४– नव विज्ञप्ति
३५– द्वितीय पर्यंक

११– प्रेमामृत;;
१२– मंगलाचरण
१३– सर्वोत्तम
१४– वल्लभाष्टक
१५– मंगलारार्तिकार्या
१६– राजभोगारार्ति ;;
१७– सन्ध्यारार्ति;;
१८– शयनारार्ति;;
१९– पयक
२०– भुजंगयाताष्टक
२१– राधा प्रार्थना चतुःश्लो की
२२– अष्टाक्षर निरूपण
२३– ललित त्रिभंग
२४– विज्ञप्ति
२५– व्रतचर्याष्टपदी
२६– स्वामिनी प्रार्थना
२७– स्वामिन्यष्टक
३६– श्रृंगाररस
३७– भक्ति मार्ग मर्यादा
३८– सेवाश्लोक
३९– पुरुषोत्तम प्रतिष्ठा प्रकार
४०– स्फुरत्कृष्ण प्रेमामृत
४१– यमुनाष्टपदी
४२– गोकुलाष्टक
४३– स्वप्न दर्शन
४४– गुप्तरस
४५– वृत्र चतुःश्लो की टीका
४६– चौर चर्या
४७–चौर्यस्वरूप नाम लीला
४८– जन्माष्टमी निर्णय
४९– गीतगोविन्दार्थ
५०– गीतातात्पर्य
५१– मुक्तितारतम्य निर्णय
५२– गायत्र्यर्थ कारिका

आपके कुमारावस्था में ही श्रीमहाप्रभुजी ने संन्यास ग्रहण कर लिया था। तथा काशी में आप एकान्त वास कर श्रीकृष्ण के चरणारविन्द का ध्यान किया करते थे। आपके आसुर व्यामोह (देह छोड़ने) के कुछ समय पहले श्रीविट्ठलनाथजी एवं आपके अग्रज श्रीगोपीनाथजी आपके दर्शनार्थ पधारे। श्रीमहाप्रभुजी उस समय किसी से भी बोलते तक नहीं थे। श्रीगुसांईजी ने जब कुछ उपदेश ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की तब आपने साढ़े तीन श्लोक लिख कर दिये। वे ही सम्प्रदाय में शिक्षा सार्धत्रय श्लोकी के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इस उपदेश के समय में ही भगवान् स्वयं प्रकट हुए और निम्नांकित सार्धश्लोक अपने श्रीमुख से कहा–

मयि चेदस्ति विश्वासः श्रीगोपीजनवल्लभे।
तदा कृतार्था यूयं हि शोचनीयं न कर्हिचित्।।
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।

अर्थात्– यदि मुझ में तुम्हारा विश्वास रहेगा तो तुम कृतार्थ हो जाओगे। तुमारी शोचनीय दीन दशा कभी नहीं होगी। मुझ में विश्वास रक्खो।

आप श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त आप किसी को भी परमेश्वर नहीं मानते थे आपका मुद्रालेख था–

जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्संगलालितम्।
तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधाः।।

अर्थात्– सबसे उच्च कोटि के ईश्वर परात्पर तत्त्व और सर्वसामर्थ्य सम्पन्न परमेश्वर यशोदा के लाल श्रीकृष्ण को ही जानो। इससे अतिरिक्त जो कोई किसी दूसरे को मानने को कहे उसे असुर समझो।

श्रीगुसांईजी का सन्मान मुसलमान बादशाह अकबर तक किया करता था। अनेक बार गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी को उसने सन्मानित किया था। राजा टोडरमल तो आपके इतने अनन्य भक्त हो गये थे कि जब संग्राम में जाते तो आपका ही प्रसादी उपरणा ओढ कर जाते। पु. मा. इ.

आप भूतल पर सत्तर वर्ष और अट्ठाईस दिन पर्यन्त विराजे। आप ने संवत् १६४२ के माघ शुक्ल सप्तमी के दिन श्रीगिरिराज की कन्दरा में प्रवेश किया।

परीक्षार्थ प्रश्न

"विट्ठल" शब्द की व्युत्पति क्या है? आपका जन्म स्थल और जन्म संवत् लिखो।

आपके समय में संप्रदाय व्यापक हुआ इसका कारण क्या था ?

श्रीगुसांईजी के कितने लालजी थे? उनके नाम लिखो ।

श्रीगुसांईजी के अन्तर्धान होने का संवत् क्या था? आपका मुद्रालेख क्या था?

पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा

श्रीमदाचार्यचरण ने जगत् में तीन प्रकार के मनुष्य गिनाये हैं। पुष्टि स्थित जीव, प्रवाह मार्गीय जीव और मर्यादा शील जीव। इन तीनों प्रकार के जीवों का फल उनकी क्रिया के फल द्वारा भिन्न २ होता है। पृथिवी के समस्त मतमतान्तरों का समावेश इन तीनों मार्गों में हो जाता है। जो जीव यहीं जन्म लेते हैं किन्तु भगवान् क्या है? मैं कौन हूँ? यह जगत् क्या है? इत्यादि दार्शनिक विचारों को जो लोग वेदोक्त रीति से नहीं समझते वे आसुर और चर्षणी वाच्य जीव हैं उनका काम जन्म लेते रहना और पुनः पुनः मरते रहना यह है। इन जैसों को ही प्रवाह मार्गीय जीव भी कहते हैं। सर्ग प्रलय की, जन्म मरण की जहां शृंखला नहीं टूटती वही ''प्रवाह'' है। आसुरी प्रवाह विषयणी सृष्टि सबसे नीची गिनी गई है। गीताजी में जो ''तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्'' कहा है यह प्रवाही और उनमें भी कठिन (दुर्ज्ञ) प्रवाही को लक्ष्य कर कहा है। प्रवाह सृष्टि के अनेक भेद हैं।

चैतन्यरूप जीव भगवदीय अंशत्वेन सबके सब समान हैं। किन्तु अनुग्रह और कर्म के फल भेद से किसी जीव को अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है, तो किसी को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। कोई अन्ध तामस में गिरता है तो कोई पूर्ण पुरुषोत्तम को भी प्राप्त कर लेता है। किसी को उत्तम देह मिलने पर भी उसके कर्म नितान्त गर्हित होते है ओर किसी को गर्हित देह मिलने पर भी कर्म उसके श्रेष्ठ होते हैं। कितने ही, इस संसार में ही हमें सुख मिले इस आशा वाले होते हैं, तो कोई पारलौकिक सुख के लिये चिन्तित हो उसी के साधन में प्रयत्नशील होते हैं और कितने ही इस लोक की और परलोक की कोई भी चिन्ता न रख केवल भगवान् और उनकी सायुज्य प्राप्ति की इच्छा रखते हैं। इस प्रकार की भिन्न २ वृत्ति इस लोक में देखी जा रही है। प्रश्न यह होता है कि लोगों की यह सर्वथा भिन्न २ रुचि क्यों हैं ? इस प्रश्न का निरास पुष्टि प्रवाह और मर्यादा मार्गीय रहस्य को जान लेने से अपने आप ही हो जाता है। रहस्य का उद्घाटन यथा मति हम यहीं करेंगे।

अपने २ अधिकार में पुष्टिमार्गीय, प्रवाहमार्गीय और मर्यादा मार्गीय सब अलग २ हैं और तीनों की क्रिया भी अलग ही है। इन तीनों के फल और गति अपनी २ अलग २ हैं। इस प्रकार तीनों की रुचि भी सर्वत्र और सर्वदा भिन्न ही रहेगी।

अब मर्यादा मार्गीय भक्त को लीजिये। इस भक्त के विशेषण से ही विदित हो जाता है कि ये जीव "मर्यादा" में रह कर ही भगवान् की भक्ति को और स्वयं भगवान् को प्राप्त करना चाहते हैं। शास्त्र में जो कुछ ईश्वर को प्राप्त करने की मर्यादा बांध दी गई है उस मर्यादा से तिलभर भी न हटना और तदुक्त साधन करते रहना यह उनका विश्वास है और यही उनका अटल सिद्धान्त रहता है। ऐसे भक्त कठिन तपस्या करके भगवान् को प्रसन्न करते हैं। किन्तु फिर भी फल में इनको भगवान् का सामान्य अनुग्रह प्राप्त होता है।

पुष्टिमार्गीय जीवों का निरूपण अन्यत्र किया गया है।

परीक्षार्थ प्रश्न

जगत् में कितने प्रकार के जीव हैं ?

चर्षणीवाच्य जीव कौन हैं ?

मर्यादा मार्गीय जीव कौन हैं ?
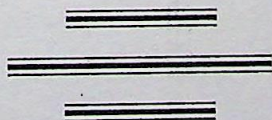
पुरूषार्थ

पुरुष जिसे चाहे उसे पुरुषार्थ कहते हैं। यह पुरुषार्थ साक्षात् और परम्परा से चार प्रकार का है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। दुःख का एकदम न रहना ही मोक्ष कहा जाता है। नित्य तथा अगणित और निर्दुःख सुख प्राप्ति का ही नाम आनन्द प्राप्ति किंवा भगवत्प्राप्ति है। दुःखाभाव और सुख प्राप्ति इन दोनों की सर्वजीव इच्छा रखते हैं इसलिये इन दोनों को साक्षात्पुरुषार्थ कहा है। धर्म करने से दुःख दूर होता है इसलिये वह भी पुरुष को अपेक्षित है। अतः धर्म के बिना धर्म और अर्थ दोनों परम्परा से पुरुषार्थ हैं। किन्तु साक्षात् पुरुषार्थ हैं। किन्तु साक्षात् पुरुषार्थ तो दुःखाभाव और सुख प्राप्ति ही है। सुख प्राप्ति भी अनेक प्रकार की है किन्तु मुख्य दो प्रकार की गिनी गई है। एक दुःख से मिली हुई दूसरी दुःख स्पर्श से रहित सुख प्राप्ति । तीनों लोक में जितना सुख है वह दुःख से मिला हुआ है और अनित्य है। इसी से उसे लौकिक सुख अथवा काम कहते हैं। जो सुख दुःख स्पर्श मात्र से रहित है, नित्य, निरतिशय और अगणित है उसी आनन्द का नाम अलौकिक सुख किंवा अलौकिक आनन्द है । इस नित्य निरतिशय अलौकिक आनन्दानुभव को ही भगवान् कहते हैं। वैष्णव मात्र को इसी पुरुषार्थ के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

अभ्यासार्थ प्रश्न

पुरुषार्थ किसे कहते हैं?

मोक्ष क्या है?

पुष्टिमार्गी मोक्ष कौनसा है?

भक्ति

वैष्णवों का सर्वोत्तम पुरुषार्थ हरिभक्ति है। भक्ति का अर्थ है भजन करना। शास्त्रों में कहा है ''**यो यदंशः स तं भजेत्**'' अर्थात् जो जिसका अंश हो वह उसे भजे। जीव भगवान् का अंश है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है ''**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**'' अर्थात् जीवभूत जीव मेरा ही अंश है। अर्थात् यह निष्पन्न हुआ कि जीव का कर्तव्य परब्रह्म ईश्वर की भक्ति करना ही है।

शास्त्रों में एक श्लोक है–

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा।।

इसका अर्थ होता है कि सब शास्त्रों का मंथन कर और उनको खूब विचार कर सार यही निकला है कि सब शास्त्र केवल एक भगवान् श्रीकृष्ण की ही भक्ति करने का उपदेश दे रहे हैं।

जिस प्रकार पुष्पों का धर्म सुगन्ध फैलाना है, नदियों का धर्म स्वच्छ और मिष्ट (मीठा) जल बहाना है अथवा जिस प्रकार साधु पुरुष का जगत् में साधुता फैलाना धर्म है उसी प्रकार मनुष्य मात्र का कर्तव्य भगवान् की भक्ति करना है।

शाण्डिल्य सूत्र में भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा है–

''**सा परानुरक्तिरीश्वरे**'' अर्थात् ईश्वर में अत्यन्त अनुरक्ति, प्रीति, रखनी यही भक्ति है।

घर, धन, पुत्र, कलत्र और प्राणों से अधिक भगवान् श्रीकृष्ण में स्नेह रखना ही है। देह पर, प्राण पर, और इन्द्रियों में ममता न रख कर भगवान् श्रीकृष्ण में ममता रखनी उसे ही भक्ति कहते हैं। निबन्ध के शास्त्रार्थ प्रकरण में श्रीमहाप्रभुजी ने भक्ति की व्याख्या करते हुए लिखा है–

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति ख्याता तया मुक्तिर्नचान्यथा।।

अर्थात्– भगवान् के माहात्म्य ज्ञान के अनन्तर जो अत्यन्त दृढ और सबसे अधिक स्नेह उत्पन्न होता है उसे भक्ति कहते हैं। इसी स्नेह के द्वारा भगवान् वश होते हैं और जीव की अविद्या का नाश करते हैं। भगवान् को वश करने का दूसरा उपाय नहीं है।

भक्ति के चार प्रकार हैं। प्रकृति अथवा माया (ईश्वर की एक शक्ति) में से उत्पन्न, तामस राजस और सत्वगुणों की सत्ता सभी के विचार, वृत्ति और कर्मों पर चलती है। इस कारण से भक्ति भी जो अंतःकरण की एक वृत्ति हो जाती है वह चार प्रकार की होती है। तामसी भक्ति, राजसी भक्ति, सात्विकी भक्ति और निर्गुण भक्ति। पुष्टिमार्ग में निर्गुणा भक्ति के ऊपर, उपर्युक्त प्रथम तीनों गुणों की सत्ता नहीं चलती।

तामसी भक्ति का वर्णन श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के २६ वे अध्याय के आठवें श्लोक में किया है–

अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः।।

अर्थात् जो मनुष्य किसी को मारने के हेतु, कपट करने के हेतु अथवा परोत्कर्ष को नहीं सह सकने से, दूसरे को पीडा पहुंचाने के हेतु, भेद दृष्टि से भगवान् का भजन करते हैं वे तामसी भक्त हैं और ऐसी भक्ति को तामसी भक्ति कहते हैं। राजसी भक्ति के लिये वहां ही दूसरा श्लोक है–

विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः।।

अर्थात् जो लोग विषयों की इच्छा से, भेद रख कर भगवान् की पूजा करते हैं वे राजस भक्त हैं और ऐसी भक्ति को राजस भक्ति कहते है।

तीसरे श्लोक में सात्विक भक्ति का निरूपण है–

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन्वा तदर्पणं ।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्विकः।।

अर्थात्– जो लोग सब कर्मों और पापों का नाश करने के लिये भगवान् की सेवा करते हैं। अपने कर्मों को ईश्वर के अर्पण करने से ईश्वर प्रसन्न होंगे यह सोच कर जो लोग अपने कर्मों को ईश्वर में अर्पण करते हैं ऐसे भेद दृष्टि वाले भक्त को सात्विक भक्त कहते हैं और ऐसी भक्ति सात्विक भक्ति कहलाती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

भक्ति क्या है?

सात्त्विक, राजस और तामस भक्त कौन हैं ?

निर्गुणा भक्ति

सबसे उत्तम भक्ति निर्गुणा भक्ति है। यहां हृदय में कुछ भी कामना नहीं रखकर, केवल अपना कर्तव्य समझकर भगवान् की प्रेम पूर्वक सेवा की जाती है। पुष्टिमार्ग में यही सेवा प्रचलित है। इसका लक्षण यह है–

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरवच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोम्बुधौ।।

भगवान् देवहूति से कह रहे हैं कि मेरे गुणों के श्रवण मात्र से सर्वान्तर्यामी मुझ में, प्रतिबन्धों से रहित अविच्छिन्न मन की गति का होना निर्गुणा भक्ति का लक्षण है।

इस श्लोक की, श्रीवल्लभाचार्य निर्मित, भागवत की टीका श्रीसुबोधिनीजी में लिखा है–

''सर्वगुहाशये मयि भगवति प्रतिबन्धरहिताऽविच्छिन्ना या मनोगतिः पर्वतादिभेदनमपि कृत्वा यथा गंगाम्भोम्बुधौ गच्छति तथा लौकिकवैदिकप्रतिबन्धान्दूरीकृत्य या भगवति मनसो गतिः''।

अर्थात् जिस प्रकार गंगानदी का प्रबल प्रवाह झाड झंखड को लेकर पर्वतादि बलवान् विघ्नों को भेदकर समुद्र में मिलता है उसी प्रकार भगवद्भक्त की जो लौकिक और वैदिक बाधाओं को दूर कर भगवान् के चरणों में मन की अविरत गति होती है उसे निर्गुण भक्ति कहते हैं।

यह भक्ति अहैतु की, कामना न रखकर, फल की इच्छा न रखकर, भगवान् की केवल प्रेमपूर्वक सेवा करने के लिये होनी चाहिये। यह भक्ति केवल पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के लिये ही होनी चाहिये। उनके अवतारों के लिये अथवा और २ देवताओं के विषय में नहीं होनी चाहिये।

ऐसी भगवान् पर आत्यन्तिकी और अहैतुकी भक्ति किसी भी फल का स्पर्श नहीं करती। अधिक तो क्या, इस भक्ति के रस में डूब कर भक्त लोग सालोक्य अर्थात् वैकुण्ठ के निवास को, सार्ष्टि अर्थात् भगवान् जैसे ऐश्वर्य को, सामीप्य अर्थात् भगवान् के सहवास को, सारूप्य अर्थात् भगवान् के सदृश स्वरूप को भी, भगवान् के दिये जाने पर भी, नहीं चाहते।

भगवान् में अपनी निर्हेतुकी भक्ति रख कर जो वैष्णव ईश्वर की सेवा करते हैं वे ही सच्चे वैष्णव हैं। भगवान् भी ऐसे ही भक्तों पर प्रसन्न होते है। भगवच्छास्त्र श्रीमद्भागवत में कहा है–

प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्।

अर्थात्– भगवान् श्रीकृष्ण, भक्त की निर्हेतुक, निर्मल भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं। उनको और प्रकार से प्रसन्न करने की चेष्टा व्यर्थ है। जिनके पास लक्ष्मी दासी हो कर सेवा करती है उनको क्या कोई लोभ दे कर प्रसन्न कर सकता है? जिसके पास अनेक रत्न और अनेक सुन्दर २ सिंहासन इत्यादि है वह क्या अपनी इन वस्तुओं के द्वारा भगवान् को वश कर सकता है? उनके पास तो कौस्तुभ भूषण ही एक ऐसा है जो जगत की सर्व सम्पत्तियों का भी मूल्य नहीं हो सकता। अपनी तुच्छ वस्तु से क्या ईश्वर प्रसन्न हो सकते हैं ? न विद्या पर, न धन पर, और न बल पर भगवान् प्रसन्न हो सकते हैं, भगवान् यदि प्रसन्न हो सकते हैं तो केवल भक्ति से ही। जीव का गर्व कुछ काम नहीं आता। वह तो साधन रहित एक अत्यन्त दयापात्र कीट है। उसके पास साधन बल कुछ नहीं। उसका तो साधन दीनता है, भगवद्भक्ति है और ईश्वर के चरणों में सतत प्रणाम है। भगवद्भक्त भगवान् के चरणों को ही उद्धारक समझता है। श्रीमद्भागवत में भी कहा है–

स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन्भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।

भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्।।

अर्थात्– हे प्रकाशयुक्त भगवान्! आपके भक्त दुस्तर संसार समुद्र को भक्तिरूप आपके चरणारविन्दों के द्वारा स्वयं अच्छी प्रकार पार पहुंच कर, जीवों पर अनुग्रह करने वाले होने से, आपके चरणारविन्द रूप भक्ति मार्गात्मक नाव को यहां रख कर, परम पद को प्राप्त हुए हैं।

भक्तिमार्ग रूपी नाव यहां महापुरुष रख गये हैं। उसका आश्रय लेने वाला बिना आयास ही संसार समुद्र को, भीषण होने पर भी, तिर जाता है। क्योंकि उस मार्ग के प्रवर्तकों पर आपका अनुग्रह है।

इसलिये जो भगवान् के चरण की शरण लेते हैं वे निर्बल हों तो भी बलवान् हैं और भविष्य में वे बडे २ सिद्ध, चारण, गन्धर्व और विनायकों के

मस्तक पर पैर रखकर निर्भय होकर विचरण करते हैं क्योंकि उन पर आपका पूर्ण अनुग्रह होता है।

जो लोग अनन्य हो कर रात दिन भगवान् में ही अपने मन को रखते हैं अथवा जिनका व्यसन ही भगवान् श्रीकृष्ण हो गया हो वे संसार को बिलकुल दुस्तर नहीं मानते और इस महार्णव (समुद्र) को उसी प्रकार पार कर जाते है जिस प्रकार बंछड़े के खुर के चिन्ह को मनुष्य अनायास ही उलांघ जाता है।

जो लोग आश्रय पर अकेले ही गर्व करते हैं। जो लोग भगवान् की मदद नहीं चाहते हुए ही सिद्धि की कामना करते हैं उनको सिद्धि प्राप्त नहीं होती। यदि होती भी है तो वे वहां जाकर भी, भगवद्भक्त न होने से ऐसे गिरते हैं कि उनका सारा गर्व खर्व हो जाता है। इस बात का रहस्य हमें गजेन्द्रोपाख्यान में प्राप्त होता है। वह कथानक इस प्रकार है–

पूर्व समय में शोभित और उत्तुङ्ग त्रिकूट पर्वत पर एक गज निवास करता था। पर्वत चारों और से समुद्र से घिरा हुआ था और उसके चरण सर्वदा क्षीरनिधि धोया करता था। बड़े २ सिद्धलोग, चारण, गन्धर्व, विद्याधर किन्नर और अप्सरा उसकी कन्दराओं का सेवन किया करते थे। वहां अप्सराओं के सङ्गीत की मधुर धुन बंधी ही रहती थी उस संगीत की जो प्रतिध्वनि थी वह बड़े २ मत्त केसरियों को अपने शत्रु की गर्जना का भ्रम उत्पन्न करती थी। वहां अपने शत्रु उत्कर्ष कभी न सहने वाले शार्दूलवर उनके प्रत्युत्तर स्वरूप गर्वमय गर्जना किया ही करते थे।

उसी पर्वत किसी गुहा में, महात्मा भगवान् वरुण का ऋतुमान् नाम बगीचा है जिसमें देवस्त्री अपने आमोद–प्रमोद का समय व्यतीत करती आई हैं। उस बाग की शोभा वर्णनातीत है। एक दिन उस कानन में निवास करने वाला असीम बलशाली मदोन्मत्त गजपति गजेन्द्र तृषा से व्याकुल अपने यूथ सहित उस सरोवर के समीय आया।

वह यूथपति गजेन्द्र अद्भुत और असीम बलशाली था। बड़े २ सिंह, बडे २ व्याघ्र, बडे २ रींछ और बडे २ गजराज उस की गन्धमात्र से भाग जाते थे। वह गजेन्द्र धर्म से तप्त हो अपने परिवार सहित अपनी मदमाती चाल से पर्वतों को

हिलाता हुआ सरोवर के समीप आ रहा था। उस समय मद उसके कपोलों से झर रहा था और भ्रमर गण उस मद का उपभोग अपने अद्भुत गुंजन के साथ कर रहे थे। मद मत्त करिवर कभी २ उनकी इस धृष्टता पर अपने आरक्तनेत्रों से देख लेता और कभी २ अपने विशाल कर्णताल से उन्हे भगा देता। उसकी अनुपमेय चाल इधर पर्वतों को कंपायमान करती थी तो उधर देवताओं की और बडी २ अप्सरायें उसकी इस चाल को देख मोहित हो उठती और अपने मन को मुग्ध करने वाली चाल उन्हें बड़ी खराब (भद्दी) मालुम पड़ती।

ऐसा ही अमेय बलशाली धर्मतप्त गजेन्द्र आज सरोवर में मनमाना स्नान कर रहा है। जिस समय वेग सहित वह सरोवर में घुसा, सारा सरोवर अव्यवस्थित हो गया। ऐसा लगता था मानों समुद्र मन्थनावसर पर मन्थराचल पर्वत समुद्र में डाला गया हो। वह सरोवर में घुसते ही अपनी जलक्रीड़ा में मस्त हो गया। कभी अपनी सूंड में जल भर कर हथिनियों पर डालता तो कभी २ अपने बच्चों को सूंड में पकड कर, उछाल कर दूर सरोवर में फैंक देता। उसका परिवार भी इसका यथोचित उत्तर देता। हथिनी मनोरंजन करने के लिये कभी गजेन्द्र के सिर पर लता और गुल्म तोड २ कर डालती तो कभी २ फूलों के ढेर को उसके मस्तक पर उडेल देती। उसके छोटे २ बच्चे कभी उसकी जांघो में लिपट जाते कभी २ पकडे जाने के भय से अपनी माके पीछे छिप जाते। करिवर उनकी इस चाल पर हँसते।

जलक्रीड़ा करते २ बहुत सा काल व्यतीत हो गया किन्तु यूथपति अपने इस मनोरंजन से न विरत हुए और न आने वाले संकट को ही वे देख सके। भगदिच्छावश गजेन्द्र को इस प्रकार सरोवर में निरंकुश क्रीड़ा करते देख एक ग्राह को अत्यन्त रोष आगया। वह गजेन्द्र की इस क्रीडासक्ति को देख अत्यन्त क्रोधायमान हो उठा और गजराज के समीप पहुंच उसके पैर को पकड़ कर वेग पूर्वक खींचने लगा। गजराज अपने बल पर गर्व करता था। उसने एक बार तो ग्राह को ठोकर मार पछाड देने की इच्छा की। किन्तु जब यह इच्छा फलवती न हुई तब गजेन्द्र बलपूर्वक ग्राह से युद्ध करने लगा। किन्तु इस युद्ध में उसका कोई भी बल काम न आया। जिसकी गन्ध मात्र से बड़े २ हिंस्त्र वनचर भाग जाते

थे आज वही अलौकिक बलशाली करी (हाथी) मकर (मगर) से परास्त होता हुआ अपने आप को देखने लगा! उस अमित बलशालीग्राह से जब अपना कुछ भी वश न चला और जब गजराज खिंचता ही चला गया तब उसने अपनी कातर दृष्टि एक बार अपने संबंधियों के तरफ डाली! देखा–उसकी हथिनिएं अपने पति को इस संकट में भयंकर रीति से फँसा हुआ देख कर खडी २ रो रही हैं। बिचारी अबला थी। वे क्या कर सकती थी। जब सहस्त्र–सहस्त्र हाथी का बल रखने वाला उनका पति ही कुछ नहीं कर सकता तो वे बिचारी साधारण बलशालिनी क्या कर सकती थी? उसके जितने बन्धुबान्धव थे वे सब उसे बलपूर्वक बाहर खींचने का प्रयत्न करते थे। किन्तु उनका सर्व प्रयत्न व्यर्थ होता था। गजेन्द्र ने जब यह देखा तो उसे बड़ा दुःख हुआ और एक बार फिर अपने बल का संचय कर ग्राह से लड़ने लगा। उनकी इस लड़ाई में एक हजार वर्ष व्यतीत हो गये किन्तु विजय श्री ने किसी के भी गले में वर माला न पहनाई। स्थलचर होने से गजेन्द्र का बल जल में क्षीण हो चला और जलचर मकर का बल प्रतिक्षण वर्धमान होने लगा। अब गजेन्द्र का प्राण संकट उपस्थित था। भागने को जगह नहीं थी। चारों ओर अथाह जल पड़ा हुआ था और लड़ने की सामर्थ्य शेष हो चली था। उसके गात्र शिथिल हो गये थे और दम उखड रहा था। उसने विचारा– ''ओह–में कैसा मूर्ख हूँ। मुझे अपने बल का अपार विश्वास है। हाय, आज वह मेरा विश्वविश्रुत गौरव और बल कहां गया? अब क्या करुं? कहां जाऊं? कौनसा उपाय करुं। जिससे इस दुष्ट मकर से प्राण बचें''?

एकाएक गजराज को विचार उठा 'ये बलसत्तम अन्य करिगण जब मुझे ग्राहपाश से छुडाने में सफल न हुए तो बिचारी ये करिणी क्या कर सकती हैं। अब यदि यहां मेरी रक्षा करने वाला कोई है तो अशरणशरण दीनदयालु कृपार्णव भगवान् श्रीकृष्ण के सिवाय और कोई नहीं है। अतएव में भी उन ब्रह्मादिक के शरण, दुःख भंजक भगवान् हरि की शरण में जाऊं। जो ईश भक्तों का रक्षक है, कृपालु है, जिससे इतने शरणागतों की रक्षा की है चलो, मैं भी उसी की शरण जाऊं। जिसके भय से मृत्यु भगता रहता है। जिसके प्रचण्ड तेज से सूर्य तपता है। जिसके अतुल वैभव से पवन गतिशाली होता है, मैं भी आज उसी

के शरण जाऊं।" इस प्रकार सोच, गजराज पूर्वजन्म शिक्षित भगवान् का परम जप करने लगा।

जब गजराज के हृदय कोष्ठ के निभृततम तम को दूर करें स्थान से उसका अन्तरात्मा बड़े भक्तिभाव से चिल्ला उठा–"हे भगवान्, अखिलगुरो नारायण, आपको इस तुच्छ जीव का अत्यन्त भक्तियुक्त नमस्कार है। हे अशरण शरण नाथ! आपका यह भक्त आज बड़े संकट में फँसा हुआ है। हे कृपार्णव दीना नाथ! इसकी रक्षा कीजिये। यह आप ही का है। आपकी अभयदायिनी चरण की शरण में आया है। नाथ! इसकी रक्षा कीजियें। रक्षा कीजिये"। तब विश्वात्मा दयासागर का दयासागर खल बल उठा। यह अशक्य है कि अत्यन्त व्यसनग्रस्त हो, सच्चे अन्तःकरण पूर्वक और एकनिष्ठा से भगवान् को कोई पुकारे और भगवान्न सुने? इस संकट ग्रस्त गज की आर्त वाणी सुन दीन दयालु भगवान् अस्थिर हो उठे और उसी समय आकर गजराज का उद्धार कर दिया!

इसी को कहते हैं भक्तिमार्ग की विजय। भगवान् भक्ति और दैन्य से ही वश होते हैं. यश, श्री, वैभव, बल कुछ भी प्रभु को प्रसन्न करने में काम नहीं आता। इस बात का एक साधारण निदर्शन उपर्युक्त दृष्टान्त में भली भांति हम देख आये। भगवान् को हम अपने बल और पराक्रम से वश नहीं कर सकते क्योंकि उनमें स्वयं में हजार २ भीमों का बल मौजूद है।

जब भगवत्प्रेम अत्यन्त उच्च कोटि पर पहुंच जाता है, तब भगवद्भक्त भगवान् के विना अथवा भगवान् की सेवा के अतिरिक्त और किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं करता। भगवान् की सेवा के आगे उसे सब कुछ तुच्छ लगने लगता है। उसके लिये तो भगवान् और भगवत्सेवा ही परमानन्द दायक हैं। ऐसे भक्तों के लिये कहा है– **"न योगसिद्धिरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्।"** अर्थात् जिननें अपनी आत्मा को मेरे अर्पण कर दी है वे मेरे सिवाय और किसी की भी इच्छा नहीं रखते। इसी को शुद्ध पुष्टि भक्ति कहते हैं।

अब हम भक्ति को दृढ करने का उपाय बताते हैं। भक्ति को बढ़ाने का उपाय आचार्यों ने इस प्रकार बतलाया है–

यथा भक्तिः प्रवृद्धास्यात्तथोपायो निरूप्यते।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात्।।

अर्थात्– बीज भाव के दृढ होने से भक्तिभाव की दृढता होती है। इस बीज भाव के दृढ करने के दो उपाय हैं। गृह त्याग किंवा अहंता ममता का त्याग और श्रवण तथा कीर्तन, प्रभु के माहात्म्य का श्रवण और कीर्तन करने से अहंता ममता की निवृत्ति होती है और भगवान् में स्नेह अहंता ममता की निवृत्ति होती है और भगवान् में स्नेह बढ़ता रहता है। अब प्रश्न यह होता है कि इस बीज की दृढता कौन से उपाय से होती है इसका निराकरण यह है–

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ।।
व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ सदा यतेत् ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ।।
''

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।।

अर्थात्– अपने धर्म के अनुसार घर में रह कर संसार में से मन हटा कर भगवान् का श्रवण और कीर्तन के द्वारा तथा तनुजा वित्तजा के द्वारा निष्काम भजन करे। अपने को करता हुआ भी भगवान् में मन न हटाये। इससे, भगवान् में पहले प्रेम होगा, फिर आसक्ति होगी और अन्त में व्यसन हो जायगा। ऐसी दशा पर जो भक्ति होगी वह कभी छूटेगी नहीं और उसका बीज ऐसा दृढ हो जायगा कि जो कभी भी नष्ट न होगा।

बीज भाव को दृढ करने का उपाय यह है कि भगवान् में अत्यन्त विश्वास रक्खे और उनके सामर्थ्य को क्षण मात्र के लिये न भूल जावे। भगवान् की सेवा, भगवान् के गुणगान और भगवान् के कथा श्रवण से मिली होनी चाहिये। जिससे प्रेम, आसक्ति और व्यसन प्राप्त हों। प्रत्येक क्षण दुःसंग का त्याग करते हुए सत्संग का सेवन करते रहना चाहिये। ऐसे भक्त पर भगवान् सदा प्रसन्न रहते हैं और संसार की कोई भी विरुद्ध शक्ति उसे हरा नहीं सकती। इस बात का एक दृष्टान्त यहां दिया जाता है।

पूर्व समय में, सप्तद्वीपपति महाराजा अम्बरीष नाम के एक परम भागवत सार्वभौम हो गये हैं। उनकी अतुलनीय सम्पत्ति और वैभव को देख, धनाकर कुबेर और महा वैभवशाली इन्द्र तक उन से ईर्ष्या करते थे। यदि इतनी सम्पति और

इतना वैभव कोई और राजा को मिलता तो वह अपने को एक दूसरा ही विधाता समझने लगता और न जाने वैभवमत्त हो कौन–कौन से कार्य कर डालता। किन्तु महाराज अम्बरीष उन राजाओं में से नहीं थे। वे तो इस अतुल वैभव को स्वप्न में मिले हुए क्षणभङ्गुर की तरह नश्वर मानते थे और कभी भी इस धन सम्पत्ति के मोह में नहीं फँसे। भगवान् की भक्ति ही उन के लिये तो सबसे बड़ी भारी सम्पत्ति थी जिसके आगे वे इन्द्र कुबेर की सम्पत्ति भी तुच्छ समझते थे। उनके तो सब कार्य केवल भ्गवदीयत्व में ही समाप्त हो जाते थे। उनको धन से कोई सम्बन्ध नहीं था, और न वे कभी इसके लिये लालायित ही रहे। जब तक जिये श्रीहरि के चरणारविन्दों का भजन करते रहे; जब यह लीला समाप्त की तब हरिभक्तों में श्रेष्ठ गिने गये। वे स्वयं भगवदीय थे और उनकी दैनिक परिचर्या भी भगवदीय हो गई थी। घर और राज्य की चिन्ता होते हुए भी वे हरिचरित्रों का ही चिन्तवन किया करते। राज्य सिंहासन पर बैठकर और राजाज्ञा सुनाते हुए भी वे हरिचरित्रों को ही सुनाते। वे स्वयं राजा थे, उनके भृत्यों की कमी नहीं थी किन्तु भगवान् के मन्दिर में वे अपने हाथ से बुहारी लगाते! राजालोगों के पास जहां झूठे प्रशंसक और विलासी मित्र बैठकर राजा को नाना प्रकार की भ्रष्ट बाते सुनाते हैं और राजा लोग जिसे बड़े चाव से सुनते हैं, महाराजा अम्बरीष के यहां ऐसे झूठे प्रशंसक और विलासी मित्रों के स्थान में भगवदीय भक्त एकत्र हो भगवदीय वार्ता महाराज को सुनाते और महाराज भी अतृप्त हो उसे सुनते। जहां राजा लोग अपने नेत्रों के उपयोग का पद–पद पर दुरुपयोग करते हैं, उनकी शक्ति कामिनी और कांचन में ही पर्यवसित कर देते हैं, वहां महाराजा अम्बरीष भगवान् के दर्शन में आंखों को लगा उनके जन्म को सार्थक करते।

इनकी भक्ति से प्रसन्न हो भगवान् ने अपने पार्षद् सुदर्शनचक्र को इन की रक्षा के लिये नियुक्त किया था। कहने का तात्पर्य यह कि वे मनसा वाचा और कर्मणा भगवान् के परम भक्त थे वे राज्य का शासन तो करते थे किन्तु अपने को राजा नहीं समझते थे। वे तो यही समझते मानो भगवान् ने इन्हें अपना राज्य चलाने को अपना एक भृत्य नियुक्त किया है। मानो वे प्रभु के एक तुच्छ दास थे जो भगवान् की आज्ञा से राज्य का संचालन करने भूतल पर आये थे।

एक समय की बात है महाराजा अम्बरीष ने द्वादशी विद्धा एकादशी का व्रत किया था। दूसरे दिन के पारणा के अन्तिम काल में दैवेच्छा से भगवान् दुर्वासा अपने साठ हजार शिष्यों सहित उपस्थित हुए। महाराज ने उन्हें सादर भोजनार्थ निमन्त्रित किया और वे भी इसे स्वीकार कर आवश्यक कृत्य करने नदी पर चले गये। बहुत देर हो गई फिर भी दुर्वासा नहीं आये। यहां अम्बरीष बडे धर्म संकट में पडे। पारणा की अवधि बीती जा रही थी। बहुत उहापोह के अनन्तर अम्बरीष ने जल का एक आचमन कर अपने पारण की रक्षा कर लीं। जब क्रोधी दुर्वासा को यह बात मालुम हुई तब वे अपने आपे से बाहर हो गये। बोले ''अरे, देखो तो इस नृषंस का साहस। इस श्रियोन्मत्त ने ब्राह्मण को भोजन कराने से पहले ही खा पी लिया! ठहर रे अभिमानी, तुझे मैं इसका फल शीघ्र ही चखाता हूं।'' यों कह अपनी एक शिखा को तोड़ उसे जमीन पर पटकी। पटकने के साथ ही बडी घोर कृत्या उसमें से पैदा हुई। किन्तु राजा इससे जरा भी न डरे। ब्राह्मण का कोप उनने शिरसा वन्द्य करने के लिये अपना हरिपदरजरंजित वदन अवनत कर दिया। किन्तु सुदर्शन चक्र ने जब देखा कि भगवान् का एक निर्दोष भक्त संकट में फंस रहा है तब उन से रहा न गया और कृत्या को उसी समय नष्ट कर दुर्वासा के पीछे पडे। दुर्वासा बडे संकट में पड़े। इस संकट से त्राण पाने, वे सर्वत्र गये पर उनकी कहीं भी रक्षा न हुई। यहां तक कि सुदर्शन से अपना पिंड छुडाने ब्रह्मा और महादेव के पास भी गये पर वे भी इस संकट से उनकी मुक्ति करने को समर्थ न हुए। अन्त में सर्वलोक शरण्य भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में जा कर गिर पडे और इस संकट से उबार ने की प्रार्थना करने लगे। भगवान् ने उनको स्वस्थ कर कहा ''ब्रह्मन्, आपकी इस संकट से रक्षा मैं भी नहीं कर सकता। मै तो भक्त के पराधीन हूँ। जिनने अपने घरद्वार, पुत्रकलत्र यहां तक कि अपने प्राणों को भी मेरे अर्पण कर दिया है, आप ही बतलाइये मैं उनके परित्याग करने का साहस कैसे कर सकता हूँ। जो लोग मेरी शरण आ गये हैं, जो लोग मुझ में ही निर्बद्ध हृदय हैं, वे मुझे अपनी एकान्त अनुरक्ति सें उसी प्रकार प्रसन्न कर लेते हैं जिस प्रकार साध्वी अपने पति को। ब्रह्मन्, और तो मैं क्या कहूं, मेरे भक्त ही मेरे हृदय हैं और मैं भी उन्हीं का हृदय हूं। मेरे सिवाय दूसरे को वे जानते नहीं हैं और न मैं ही उन के सिवाय दूसरों का ध्यान रखता हूं। अब जहां

से भय आया है उसी के शरण जाओ। वही तुम्हारी रक्षा करेगा।' निदान अम्बरीष ने ही उनके संकट को दूर किया।

यह है एक पुष्टिमार्ग की भक्ति का एक साधारण उदाहरण जहां भगवान् भी भक्त के वश हो जाते हैं। यह उच्च पुष्टिभक्ति है। किन्तु ऐसे भक्त अत्यन्त दुर्लभ हैं। शुद्धपुष्टिभक्ति साधनों से प्राप्त नहीं हो सकती किन्तु भगवान् जब दया करते हैं तभी मिल सकती है। केवल गोपीजनों को ही यह अनुग्रह प्राप्त था।

अभ्यासार्थ प्रश्न

भगवद्भक्त का वर्णन करो।

गजेन्द्रोपाख्यान से क्या समझे?

भक्ति के दृढ करने का क्या उपाय है?

महाराज अम्बरीष की कथा का सार लिखो।
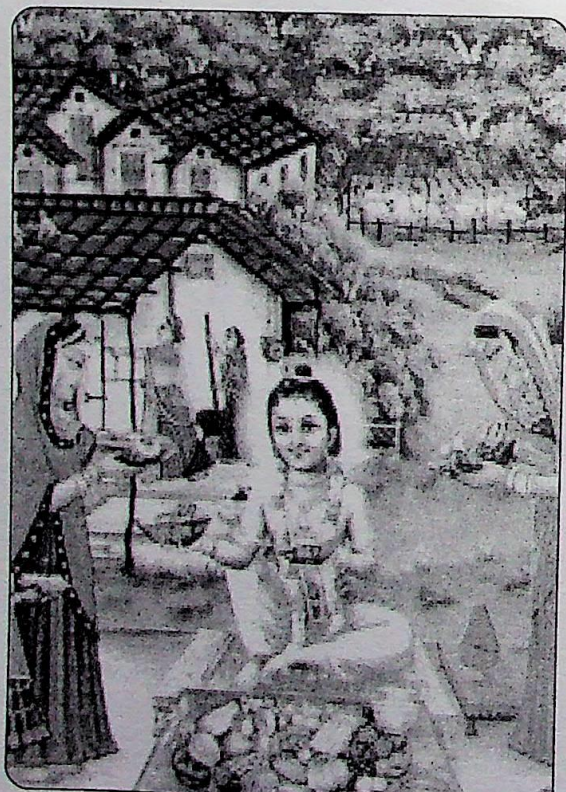
सेवा

शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग में ''सेवा'' अकेली ही उत्तमोत्तम साधन मानी गई है। ब्रह्म संबंध लेने के अनन्तर ही जीव सेवा का अधिकारी हो सकता है। कलियुग में सेवा ही दोनों तरह के भगवत् सायुज्य की प्राप्ति का एक मात्र मार्ग है। सेवा भगवान् में अपूर्व माहात्म्य ज्ञान स्थापित कर अनन्य भाव से और दृढ श्रद्धा व आस्था पूर्वक करनी चाहिये।

कलियुग के प्रभाव से सब पदार्थ अशुद्ध हो गये हैं। शुद्ध पदार्थ मिलना अत्यन्त कठिन हो गया है। शुद्ध पदार्थ मिलने पर पहले, यज्ञयागादिक सम्पन्न होते थे परन्तु अब देश, काल, द्रव्य, मन्त्र, कर्ता और कर्म इन की शुद्ध प्राप्ति अत्यन्त असंभव है और इसीलिये आज कल यज्ञ यागादिक कुछ भी सफल नहीं होते यह हमारे अनुभव की बात है। इसलिये भगवान् के चरणारविन्दों की प्राप्ति कराने वाली है तो कलियुग में भक्ति या सेवा ही है।

भगवान् की भक्ति में स्नेह होने के लिये सेवा की अत्यन्तावश्यकता है। जो वैष्णव हो कर भी सेवा नहीं करता वह पुष्टिमार्ग के रहस्य को नहीं जानता और उसे भक्तिमार्गवर्णित सफलता प्राप्त नहीं होती। ''यो यदंशः स तं भजेत्।'' इत्यादि न्याय से जीव प्रभु का अंश है। इसलिये प्रभु की सेवा करनी उस का धर्म है। भगवान् सर्वत्र हैं तथा मैं भी भगवान् का हूं यह भाव रख, भगवान् की सेवा करनी चाहिये। श्रीमहाप्रभुजी ने कहा है कि ''जीव का किसी भी देश या किसी भी काल में सेवा के सिवाय और कोई भी धर्म नहीं हो सकता। सेवा विना, अन्य धर्म की साधना यदि जीव करने लगे तो उसे दुःख की प्राप्ति के सिवाय सुख नहीं मिल सकता।'' सेवा से ही भक्ति हो जाती है। भगवान् में मन का अनुस्यूत होना भक्ति है। यही महापुरुषार्थ है इसी से भगवान् वश किये जा सकते हैं। हम यहां भक्ति और सेवा का अलग–अलग वर्णन करेंगे।

श्रीहरि में एक तनमन प्राण हो कर उनकी परिचर्या करने को ही सेवा कहते हैं। यह सेवा तीन प्रकार की है। तनुजा, वित्तजा और मानसी। इनमें मानसी सेवा उत्कृष्ट है। इस मानसी सेवा की साधन रूप ही तनुजा और वित्तजा सेवा हैं। श्रवण कीर्तन या शरीरादिक से की जाने वाली सेवा उसे तनुजा सेवा कहते हैं। तथा सन्मार्गोपार्जित द्रव्य से प्रभु के मन्दिर, आभूषण और वस्त्रादिक बनवाना यह

वित्तजा सेवा है। यह दोनों सेवा मानसी सेवा में सहायक हैं और इनका निरन्तर अभ्यास करते रहने से बीज रूप भाव का उद्‌बोध होता है और इसी भाव के उत्पन्न होने से प्रभु में प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। यह रतिरूपा प्रथम भूमिका है। इसके अनन्तर भक्तिवर्धिनी की रीति से निरन्तर सेवा करने से आसक्ति और व्यसन ये दोनों एक के बाद एक इस प्रकार होते हैं। प्रभु में व्यसन होने से जीव कृतार्थ हो जाता है। व्यसन हो जाने पर साधनों का आचरण करना आवश्यक नहीं होता। इतना, और यहां तक तो जीव के बस की बात है किन्तु अब सर्वात्मभाव केवल भगवान् ही के हाथ में है। सर्वात्मभाव तो केवल भगवदनुग्रह से प्राप्त होता है। मानसी सेवा अथवा व्यसन का चरम फल भगवत्प्राप्ति है।

इस सम्प्रदाय में प्रभु की सेवा, बिना कोई फल की आकांक्षा रख कर की जाती है, उत्तम भक्त को उचित्त है कि वह किसी भी कामना को अपने हृदय में न रख शुद्ध रीति से भगवान् की परिचर्या करे। जो लोग यद्यपि भगवान् की शुद्ध रीति और सच्चे अन्तःकरण से सेवा करते हैं तथापि कुछ फल की आकांक्षा रखते हैं वे सच पूछो तो भगवान् के सेवक ही नहीं हैं। वे तो एक प्रकार के क्रय विक्रय करने वाले व्यापारी हैं जो एक चीज देकर दूसरी की आकांक्षा करते हैं।

हमारे सम्प्रदाय में भगवान् की सेवा बाल भाव से की जाती है। लोक में जिस प्रकार अति प्रेमास्पद बालक को, सर्व लोग सर्वरीत्या प्यार और आदर करते हैं, उसी प्रकार यहां भी भगवान् की सेवा सर्वतोधिक भाव से की जाती है।

प्रभु की किस रीति से परिचर्या करने से प्रभु को विशेष सुख होगा इस बात का ध्यान हरेक सेवक को होना चाहिये। जो भक्त अपनी सेवा से प्रीतिपूर्वक सब दुःख हर्ता भगवान् श्रीकृष्ण के भी दुःख हरने का प्रयत्न करता है उसका सर्वत्र वैराग्य है यह निश्चय जानना। प्रभु में प्रगाढ़ स्नेह हो और अन्यत्र किसी भी पदार्थ में आसक्ति न हो तो उस समय प्रभु का थोड़ा भी दुःख सहन भक्त को नहीं होता । इस लिये वह सेवक सर्वतः भगवान् के दुःख की निवृत्ति का प्रयत्न करता रहता है। यह सब बातें प्रभु में प्रगाढ स्नेह होने से होती हैं। हमारे मार्ग में भी प्रभु पर प्रगाढ स्नेह भाव रख सेवा की जाती है। इसलिये भगवान् को प्रसन्न करने का यही एक उत्तम मार्ग है।

जिस प्रकार शिशु की सेवा हम रात्रि दिवस किया करते है। तथा किस प्रकार उसकी परिचर्या करने से कैसे वह सुखी होगा इस बात का हम सर्वदा ध्यान रक्खा करते हैं। ठीक यही बात यहां पर भी है। शीतकाल में प्रभु को

दिवस में गद्दर तथा रात्रि में रजाई धराई जाती है। ग्रीष्मकाल में चन्दन, गुलाबजल, आदि अर्पण किये जाते हैं। तथा प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक, समय समय पर ऋतु के अनुकूल सतुवा, उत्तम पकवान, पना, अमरस, खीर, दूध, दही, सन्धाना, (अचार) माखन मिश्री आदि लोकप्रिय उत्तम पदार्थ प्रभु के भोगादि में पधराये जाते हैं। एकादशस्कन्ध के ''यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः। तत्तन्निवेदयेन्मह्यम्'' कथनानुसार किये जाते हैं और ये उपचार प्रभु में गाढ अनुराग पैदा करने के साधन हैं। और यही भगवान् की आज्ञा भी है।

हमारे यहां नाम और स्वरूप सेवा ये दो सेवाएं प्रसिद्ध हैं। स्वरूप सेवा (भगवान् के स्वरूप की सेवा) और नाम सेवा (भगवान् के स्वरूप को समझाने वाले ग्रन्थों को पढना और सुनना)। वैष्णवों को दोनों सेवा करनी चाहिये। स्वरूप सेवा के अनवसर में नामसेवा का करना परम कर्तव्य है। जो लोग स्वरूप सेवा करते हुए भी नाम सेवा नहीं करते, उनकी सेवा अधूरी गिनी जाती है। सेवा सन्तोषजन का और कायादि व्यापार रूपा है। जैसे राज सेवा, गुरु सेवा, पितृ सेवा। किन्तु ऐसी सेवा होना सर्वत्र दुर्लभ है। सेवा दो प्रकार की है। एक साधनरूप सेवा और दूसरी फलरूप सेवा। इसमें मानसी सेवा फल रूपा परा है। यह सेवा श्रीव्रजसीमंतिनीओं को साक्षात्स्वरूप में प्राप्त थी और यही बात भगवान् ने ''तानाविदन्'' इस वाक्य में कही है। यह सेवा बडी कठिन है। भगवान् का ध्यान सर्वत्र और सर्वदा बना रहे या भगवान् में जब व्यसन हो जाय तभी साध्य हो सकती है। मनसा, वाचा और कर्मणा भगवान् श्रीकृष्ण ही आराध्य और संचिन्त्य हों तभी यह सेवा सिद्ध हो सकती है। इस में भी बाह्य सेवा और आभ्यन्तर सेवा ये दो भेद हैं। इन दोनों में मानसी सेवा बाह्य सेवा का फल है। ये दोनों प्रकार की सेवा साधन फल रूप होने से नित्य अनुष्ठेय हैं। यही बात सूत्रकार ने फलाध्याय के प्रथम पाद में ''आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'' इस सूत्र में कही है। अतः सूत्रकारने भी फलाध्यास में साधन का विचार किया और उसके असकृदुपदेश की आवश्यकता सिद्ध की। मानसी सेवा मुख्य है यह भी साधनाध्याय के सहकार्यन्तराधिकरण से सिद्ध हो जाती है।

शास्त्रों में भी कायिक, वाचिक और मानसिक यह तीन साधन उपदिष्ट किये गये हैं। उनमें से मानसिक मुख्य समझाा गया है। कहा भी है ''मनसैवाप्तव्यम्'' अर्थात् मन से ही प्राप्त करना चाहिये। यह श्रुति भी मानसी सेवा को उत्कृष्ट पद दे रही है। यह बाह्यसाधन जब तक भगवान् में स्नेह का संचार न हो तब तक

कर्तव्य है। अनन्तर भगवत्कृपा से स्नेह स्वयं स्फुरित होता है। इसी का निर्णय भाष्यकार ने किया है। पुष्टिमार्ग में तो इसकी पराकाष्ठा है। यह निश्चय है कि इससे अतिरिक्त पथ से प्रसन्न नहीं होते। भगवान् ने ''अथैतत्परमं गुह्यम्'' और ''सुगोप्यमपि वक्ष्यामि'' यह कह कर इस पथ से एकान्त प्रेम प्रकट किया है। अतएव मानसी सेवा ही उत्तम है, वही कर्तव्य है और वही भगवान् में गाढ अनुराग पैदा करने वाली है।

भगवान् में मन की अविच्छिन्न गति, उनमें सर्वतोधिक स्नेह और उनमें दृढ विश्वास प्रभु की सेवा करने से ही हो सकती है।

समाधि में जिस प्रकार मन बाह्यज्ञान शून्य हो अपने ध्येय में एकतान हो जाता है उसी प्रकार ही मानसी सेवा में भी मन प्रभु के चरणारविन्द में एक तान मन प्राण हो जाता है। सेवा की प्रथम अवस्था में मन नम्र होता है, द्वितीय में भगवान् के अध ीन और तृतीय में भगवान् में तन्मय हो जाता है। यह सेवा की पराकष्ठा है। भगवान् की सेवा में पहले प्रेम होता है फिर आसक्ति होती है और अन्त में भगवान् में व्यसन हो जाता है। जब व्यसन हो जाय तब जानना कि भक्ति या सेवा का उत्तम फल मिला। जब मन सब बाह्य वृत्तियों से निकल कर भगवान् में एक तान हो जाय–सर्वतः भगवान् का ज्ञान होने लगे या भगवान् विना एक क्षण भी न रहा जाय तब जानना कि मानसी सेवा सिद्ध हुई। उस समय जीव का कर्तव्य है तो भगवान्, धर्म है तो भगवान् और गति है तो भगवान्। सब भगवन्मय हो जाता है। भगवान् के सिवाय कहीं किसी भी जगह किसी का भी ज्ञान ही न रहना उत्तमोत्तम सेवा की सिद्धि होना माना गया है। ऐसी सेवा जिसे प्राप्त हो वह धन्य है। वह मनुष्य नहीं देवताओं से भी अधिक शक्ति शाली और भाग्यवान् है।

सेवा का मूल और प्रमाण श्रीमद्भागवत है। श्रीमद्भागवत में बाह्य सेवा नौ प्रकार की लिखी गई है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।

अर्थात्– भगवान् की, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन यह नौ प्रकार की भक्ति (सेवा) है।

यह नवधा भक्ति ही प्रभु को प्रसन्न करने के लिये समर्थ है।

१– श्रवणाभक्ति–प्रभुभक्त के मुख से प्रभु के जन्मादि चरित्र, भगवन्नाम तथा भगवत्स्तोत्र पाठादिकों का ध्यान और श्रद्धापूर्वक, श्रवण करने को श्रवणा भक्ति कहते हैं। प्रभु में अनुराग उत्पन्न करने का यह प्रथम साधन है। प्रभु और लीलाओं का, अवधारण पूर्वक श्रवण प्रथमा भक्ति है।

२– कीर्तन– प्रभु के नाम, चरित्र तथा स्तोत्रों का अधिकार पूर्वक श्रद्धा से कीर्तन करे उसे कीर्तन कहते हैं। यह भक्त की दूसरी सीढी है।

३– स्मरण भक्ति–प्रभु के स्वरूप, लीला तथा लीला के परिकर को मन में ले आने को और उनका निरन्तर ध्यान करने को स्मरण कहते है। यह भक्त की तृतीयावस्था है और यह श्रवण और कीर्तन से सिद्ध होती है।

४– पादसेवन– श्रद्धा से सदा प्रभु की प्रेम पूर्वक परिचर्या करते रहना इसे पाद सेवन कहते हैं। यहाँ पाद सेवन का अर्थ सोहिनी सेवा से लेकर अन्नकूट की सेवा पर्यन्त का है।

५– अर्चन– प्रभु के माहात्म्य का हृदय में ध्यान धर कर शास्त्रोक्त रीति से सेवा करते समय जो उपचार किये जायें उसे अर्चन कहते हैं।

६– वन्दन– अपनी दीनता को व्यक्त करते हुए जो प्रभु को नमन किया जाता है उसे वन्दन कहते है।

७– दास्य– किसी तरह से भी अन्याश्रय न कर केवल प्रभु का ही दास होते रहना इसे दास्य कहते हैं।

८– सख्य– श्रद्धा से प्रभु में और प्रभु की सेवा में किसी भी प्रेरणा से रहित हो प्रभु के सुख का ध्यान रक्खा जाता है उसे सख्यभक्ति कहते हैं। जहां २ प्रभु की सेवा विराजमान है वहां २ सर्वत्र ग्रीष्म में पंखा करना, चन्दन धारण कराना इत्यादि विधेय हैं। इसी प्रकार शीतकाल में भी प्रभु को गद्‌दर धराना, उनके सम्मुख सिगड़ी रखना इत्यादि उपचार किये जाते हैं। ऋतु के अनुसार प्रभु के सुख का विचार कर जो जो उपचार कियो जाते हैं उसे सख्य भक्ति कहते हैं।

९– आत्मनिवेदन– देह, पुत्र, स्त्री, धन और इतर प्रिय पदार्थों के सहित अपने आपको ईश्वर के आधीन–समर्पण कर देना आत्मनिवेदन है।

श्रीमद्वल्लभाचार्य मतानुयायी वैष्णवों के यहां सर्वत्र यह नवधा भक्ति करने में आती है। सेवा के अनवसर में, अर्थातजिस समय श्री पोढ रहे हों उस समय

श्रीभागवत श्रीसुबोधिनीजी तथा और भगवन्नामों का श्रवण किया जाता है। यह श्रवणाभक्ति है। ऐसे ही अनवसरों में अथवा सेवा समय में भी संस्कृत एवं प्राकृत कीर्तनों का गान किया जाता है क्योंकि गान विद्या यहां उद्वेग का नाश करनेवाली मानी गई है। यह कीर्तन भक्ति हुई। नित्य नियम के समय शरणमन्त्र तथा भगवन्नाम का पुनः पुनः आवर्तन करने का यहां सदाचार है। यह स्मरण भक्ति है। भगवन्मन्दिर में सोहिनी प्रभृति से संमार्जन करना भगवत्प्रसादी वस्त्रों को धोना, रंगना और मंगला से लेकर शयन पर्यन्त सब सेवा पादसेवन सेवा है। पंचामृतस्नान, अधिवासन, संकल्प, देवोत्थापन तथा इन सबों के मन्त्रोच्चारण, धूप, दीप, शंखोदक आदि उपचार अर्चनरुपभक्ति है। प्रभु में दीनता रखकर सदा उनके लिये नमस्कार करते रहना ही वन्दन है।

भगवत्प्रसाद लेना, प्रसादी वस्त्रों का धारण करना, कुंकुम, चन्दनादिक से तिलक करना, अन्याश्रय न करना दास्य भक्ति है।

शीतकाल में प्रभु को दिवस में गद्दर तथा रात्रि में रजाई धरना, उष्ण काल में चन्दन गुलाब जल आदि का अर्पण करना तथा प्रातःकाल से लेकर सायंकाल पर्यन्त समय समय पर ऋतु के अनुकूल उत्तम पकवान, पना, दूध, दही, माखन मिश्री आदि लोक प्रिय उत्तम पदार्थों का प्रभु के भोगादि में पधराना यह सब सख्यभक्ति है। अप्रेरित हिताचरण को सख्य कहते हैं।

देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण तथा स्त्री, पुत्र, गृह मित्र और धन आदि को प्रभु के उपयोग में लाकर प्रभु की सेवा के लायक बनाना अर्थात् इन सब का प्रभु से संबंध कराना आत्मनिवेदनरूपभक्ति है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

सेवा क्या है ?

नवधा भक्ति का वर्णन करो।

सेवा कितने प्रकार की है ?

सम्प्रदाय में सेवा किस भाव से की जाती है ?

निरोध

प्रपंच अथवा जगत् की विस्मृति होकर भगवान् श्रीकृष्ण में जो आसक्ति होती है उसे निरोध कहते हैं। सेवा, श्रवण, कीर्तन और स्मरण का मुख्य हेतु निरोध प्राप्त करने का है। पुष्टिमार्ग का सच्चा फल भगवान् श्रीकृष्ण में निरोध होना है। निरोध की तीन कक्षा हैं। प्रेम, आसक्ति और व्यसन। प्रेम अर्थात् भगवान् के विषय में निरुपधि स्नेह। दृढ और निरूपाधि स्नेह उत्पन्न हो जाता है। मन की इस स्थिति को आसक्ति कहते हैं।

सर्व शक्तिमान् ईश्वर सम्बन्धी विचारो में मन सर्व रीत्या लग (पुह) जाय और ईश्वर बिना जब एक क्षण भी दुःखद होने लगे अथवा **भगवान् बिना जब कुछ भी अच्छा न लगे उसे व्यसन कहते हैं।**

जब सर्वशक्तिमान् ईश्वर के गुण अथवा धर्म भक्त के हृदय में प्रवेश करते हैं तब वे गुण अथवा धर्म उसे संसारिक विषयों के विषय में स्थिर वैराग्य उत्पन्न करने वाले हो जाते हैं। ईश्वर के गुण अथवा धर्मों के स्पर्श से भक्तजन को कभी भी दुःख भोगना नहीं पड़ता। यह स्थिति जीवन्मुक्त जिसे कहते हैं उसकी पहली दशा है।

जिनको निरोध अभी तक प्राप्त हुआ नहीं है किन्तु भविष्य में वह प्राप्त हो ऐसी आशा हो ऐसे जो मिश्र पुष्टि भक्त हैं उनके लिये निरोध प्राप्ति का उपाय आचार्य श्री ने यों बतलाया है–

संसारावेशदुष्टानां इन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्।।

अर्थात्– संसारावेश दुष्ट इन्द्रियों के हित के लिये भूम्न ईश (विराट् पुरुष के भी ईश्वर) श्रीकृष्ण के विषय में सब वस्तुओं को योजन करना चाहिये।

मनुष्यों की इन्द्रियां संसार के विषयों में फंसी हुई हैं उन्ही को इतर विषयो में से हटा कर भगवान् श्रीकृष्ण में लगानी चाहिये। इस प्रकार धीरे २ निरोध सिद्ध हो जाता है।

निरोध की व्याख्या

पुष्टिमार्ग में 'निरोध' शब्द बडा महत्व रखता है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में निरोध' का वर्णन किया गया है।

श्रीमद्भागवत में लिखा है–

निरोधोस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः।

अर्थात्– परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण का अपनी शक्ति के सहित जो अनुशयन उसे निरोध करते हैं। आत्मपद से निर्गुण परब्रह्म का ग्रहण करना चाहिये। 'गौणश्चेन्नात्मशब्दात्' इस सूत्र में भी 'आत्मा' शब्द को परब्रह्म वाचक कहा है। तब विचार यह होता है कि परब्रह्म कौन? गोपालतापिनीयोनिषत् में लिखा है– **''कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयो रैक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते''** और 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' इन दोनों वाक्यों से कृष्ण का परब्रह्म भगवान् होना सिद्ध होता है। इसलिये अब यह सिद्ध हुआ कि कृष्ण का जो अनुशयन उसे निरोध कहते हैं। भगवान् की लीलानुरूप स्थिति को ही अनुशयन कहते हैं। **''विष्णुः सर्वगुहाशयः''** इस वाक्य में शीङ् धातु का स्थिति में अर्थ किया है। जिस प्रकार **''गुहाशय''** का अर्थ 'गुहायां शेते' नहीं होता उसी प्रकार यहां भी अनुशयन का अर्थ सोना नहीं है। क्योंकि निद्रा तो अविद्या वृत्ति है ब्रह्म में उसका होना सर्वथा असम्भव है। इसलिये शीङ् धातु का यहाँ अनुरूप स्थिति अर्थ होता है। इसलिये अपनी दुर्विभाव्य शक्तियों के सहित भगवान् की जो स्थिति उसे 'शयनम्' कहते हैं। अनुरुपता उपसर्गार्थ में है। इससे श्रीकृष्ण की लीलानुरुपा जो स्थिति उसे अनुशयन कहते हैं। अपनी अनेक शक्तियों के साथ श्रीकृष्ण का जगत् में क्रीडा करना ही निरोध है। सुबोधिनीजी में भी इसी बात को कहा है–

निरोधोस्यानुशयनं प्रपंचे क्रीडनं हरेः ।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम्।।

अर्थात्– प्रपंच में भगवान् श्रीकृष्ण का अपनी दुर्विभाव्य शक्तियों के साथ जो क्रीडन उसे ही निरोध कहते हैं।

निरोध की सामान्य टीका

निरोध का लक्षण यह है कि प्रत्येक अथवा कोई भी उपाय के द्वारा मन का सर्व व्यापार भगवान् श्रीकृष्ण में समर्पण कर दिया जाय।

चतुःश्लोकी में आचार्य श्रीने कहा है–

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन।।

अर्थात्– सब भावों से सर्वदा भगवान् श्रीकृष्ण की ही सेवा करनी चाहिये। मन में यह दृढ कर लेना चाहिये कि यही मेरा धर्म है। इसके सिवाय धर्म और कोई भी नहीं है।

इस प्रकार जो लोग ईश्वर में अनन्य भाव रखकर अपने मन को उन में लगाते हैं वे शीघ्र ही उन को प्राप्त करते हैं। सुबोधिनीजी में लिखा है–''मय्येव मनो युंजानाः शीघ्रमेवाचिरान्मामवाप्स्यथ।'' अर्थात् जो लोग मेरे बीच में ही केवल मन लगाते हैं वे शीघ्र ही मुझको प्राप्त होते हैं।

भक्त जन का भगवान् के विषय में ऐसा होना चाहिये कि जिससे सर्वशक्तिमान् भगवान् का भी निरोध भक्तजन को प्राप्त हो। इन दोनों निरोध के सम्बन्ध से भक्त का निरोध दृढ होता है और किसी प्रकार से वह दृढ नहीं हो सकता। सुबोधिनीजी में कहा है–

निरोधो यदि भक्तानां स्वस्मिन् स्वस्य च तेषु च।
तदोभयसुसंबंधात् दृढो भवति नान्यथा।

अर्थात्– जब भगवान् का निरोध भक्त में और भक्त का निरोध भगवान् में हो जाय तो वह सम्बन्ध अत्यन्त दृढ हो जाता है। इसके दृढ करने का और उपाय नहीं है।

भक्ति के विषय में शास्त्रों में वर्णित संस्कारों की आवश्यकता नहीं है क्योंकि भक्ति प्रेम अथवा और साधनों से सिद्ध होती है।

किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि सेवा या भक्ति का ढोंग रखने से ही अथवा सेवा का अनुराग करने से ही अथवा सेवा, भक्तिरहित हो कर करने से कोई फल प्राप्त नहीं हो सकता। आप श्री का कथन है–

'कापट्ये न तु सेवायं फलम्।'

अर्थात्– भगवान् में कपट करने से सेवा का कुछ भी फल नहीं मिल सकता। संसार के विषयों में जिन का मन फंसा हुआ है उनको निरोध की प्राप्ति असम्भव है। संन्यास निर्णय में कहा है–

'विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वथा हरेः।'

अर्थात् जिसका मन विषयों से घिरा हुआ है उसके मन में ईश्वरीय शुद्ध और उंचे विचारों का प्रवेश नहीं हो सकता। इस प्रकार भगवान् में श्रेष्ठत्व का अनुभव करके अमत्सर हो भगवान् की भक्ति करे। निरोध प्राप्ति का यह सरल मार्ग है। निरोध प्राप्ति के ये भी उपाय हैं–

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पापि तत्र वै।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा।।
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत्।।

अर्थात्– संकल्प के द्वारा भी हरिमूर्ति का सदा ध्यान करना चाहिये। इसी प्रकार उस हरिमूर्ति में स्पष्ट और साक्षात् पुरुषोत्तम विराजते हैं ऐसी भावना करके दर्शन और स्पर्श करना चाहिये और भक्त को उचित है कि वह यही भावना रख कर अपनी कृति और गति रक्खे।

जब इन्द्रिय स्पष्ट रीति से प्रभु में जुडी हुई रहे तभी निरोध होना संभव है। आंखों से प्रभु के दर्शन करते हुए भी यदि मन अन्यत्र हुआ तो फल व्यर्थ होता हैं इसी बात को सुधारने के लिये आप श्री की आज्ञा है–

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृष्यते।
तदा विनिग्रहस्थस्य कर्तव्य इति निश्चयः।।

जब जब यह मालुम हो कि अमुक इन्द्रिय भगवान् में लगने में अशक्त है अथवा वह अपना भगवत्कार्य ठीक २ नहीं करती तब २ ही उसी इन्द्रिय को सुधारने पर विशेष २ बल देते रहना चाहिये जिससे सर्वदा सब इन्द्रिय अपने २ भगवत्कार्य को यथाशक्ति करती रहे और निरोध की प्राप्ति हो।

इस निरोध के सिवाय दूसरा मन्त्र भगवान् को वश में करने का नहीं है, न कोई स्तोत्र है, न कोई विद्या है और न कोई इसके सिवाय तीर्थ ही है। भगवद्भक्त के लिये तो सर्वोत्तम मन्त्र, तन्त्र, तीर्थ और विद्या सब केवल निरोध ही है। निरोध प्राप्ति के अर्थ ही भगवद्भक्त प्रयत्न करता है।

निरोध की तीन दशा

निरोध की व्याख्या– प्रपंच में से (जगत् में से) चित्त को हटकर प्रभु के चरणारविन्दो में लगे यह निरोध की व्याख्या है। इस निरोध की तीन दशा हैं, प्रथम, मध्यम और उत्तम।

अविद्या की निवृत्ति होकर प्रभु स्वरूपज्ञान होने से 'मैं प्रभु का दास हूं फिर भी प्रभु का मुझे वियोग हुआ है' यह समझ में आजाना निरोध की प्रथमावस्था है। यह दशा प्राप्त होने का साधन भगवान् के गुणों का श्रवण और कीर्तन करना है।

निरोध की मध्यमदशा– निरोध की प्रथमदशा में, अन्तःकरण में, भगवद्वियोग जनित ताप क्लेश का अनुभव हुआ था। इससे संसार में से आसक्ति अब हट जाती है और प्रभु म आसक्ति बढती रहती है। इस मध्यम दशा में प्रभु की लीला का अनुभव करते २ भगवत्साक्षात्कार होता है। प्रभु के गुणगान में ही संसारासक्त मन प्रभु की प्राप्त्यर्थ नाना क्लेश का अनुभव करता है, तब हृदयस्थित प्रभु बाहर प्रकट हो कर दर्शन देते हैं।

निरोध की उत्तम दशा–प्रभु साक्षात्कार के अनन्तर भगवान् जब पुनः हृदय में विराजमान हो जाते हैं, तब फलरूप विरह दशा प्राप्त होती है। ऐशी दशा, प्रभु की भक्त पर जब अत्यन्त कृपा होती है तभी जीव पर होती है साधन से यह दशा प्राप्त नहीं की जा सकती। निरोध दशा अपने बल से प्राप्त नहीं हो सकती । इसलिये निरोध प्राप्ति के इच्छुकों को परम भगवदीयों का सत्संग कर, श्रवण और कीर्तन करते रहना चाहिये।

परीक्षार्थ प्रश्न ?

निरोध क्या है ?

आसक्ति और व्यसन क्या हैं ?

निरोध सिद्ध हो इसके उपाय क्या हैं ?

निरोध की कितनी दशायें है ? इनका वर्णन करो ।

वैष्णवों के कर्तव्य

१– भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा करना, उनकी भक्ति करना और उनमें एकतान मन प्राण हो जाना वैष्णवों का परम् धर्म कर्तव्य है–

श्रीमद्भागवत में कहा है–

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति ।।

अर्थात्– मनुष्यों का सबसे परमोत्कृष्ट वही धर्म है जिससे भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति हो और जिसमे भगवान् पर प्रीति बढती रहे।

श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भी आज्ञा की है–

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन।।

अर्थात्– सर्वदा सर्वभावनाओं से श्रीयशोदोत्संगलालित श्रीकृष्ण की सेवा करना वैष्णवों का परम धर्म है। कोई समय में और किसी समय में भी किसी प्रकार का अन्य धर्म वैष्णवों का नहीं हो सकता।

२– गृह को महाप्रभुजी ने अनर्थ का फल मूल कहा है और उसके सर्वथा त्याग करने का उपदेश दिया है और कहा है कि 'यदि गृह छोडने में असमर्थता होती हो तो उसी गृह को कृष्ण के अर्थ प्रयोग कर देना चाहिये' अर्थात् गृह को भगवान् में समर्पण कर उसमे निवास करना चाहिये। भगवान् सब अनर्थों के वारक हैं।

३– संग को भी आचार्यों ने दोष गिना है किन्तु कहा है कि वही संग यदि वैष्णवों के साथ, सत्पुरुषों के साथ और भगवद्भक्त के साथ किया जाय तो वह श्रीकृष्ण में भक्ति बढाने वाला होता है; क्योंकि सन्तपुरुष संग की भेषज हैं।

४– आचार्यजी की आज्ञा है कि भगवत्सेवा अपने पुत्र और कलत्र के साथ करनी चाहिये। यदि उनकी अंभिरुचि सेवा में न हो तो अकेला ही करे। किन्तु यदि वे लोग सेवा में विघ्न डाला करें और सेवा करते समय उद्वेग

जनक बातें कहा करें तो कर्तव्य यह है कि घर का परित्याग कर दे। बहिर्मुख घर के त्याग करने में कोई भी दोष नहीं है।

५– वैष्णवों को भगवान् में परम विश्वास होना चाहिये। भगवान् ने स्वयं आज्ञा की है–

मयि चेदस्ति विश्वासः श्रीगोपीजनवल्लभे।
तदा कृतार्था यूयं हि शोचनीयं न कर्हिचित्।।

अर्थात्– जब मुझ गोपीजनवल्लभ में विश्वास है तो फिर तुम कृतार्थ हो। तुम्हें कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

जो लोग अपना घर, स्त्री, पुत्र, धन और प्राण सब भगवान् में समर्पण कर प्रभु में विश्वास रखते हैं उनको भगवान् कभी नहीं छोडते; यह निश्चय है।

वैष्णवों के कर्तव्य तीन प्रकार के हैं। आधिदैविक, आध्यामिक और आधिभौतिक भगवान् के निमित्त ही जो कार्य किये जाते हें वे आधिदैविक हैं, वेदानुकूल जो धर्म हैं वे आध्यात्मिक हैं और जो देह सम्बन्धि हैं वे सब आधिभौतिक कर्तव्य कहलाते हैं।

६– शास्त्र की आज्ञा प्रत्येक वैष्णव को माननी चाहिये। उनमें कहे गये वर्णाश्रमधर्म का भी पालन सदा करते रहना चाहिये। स्पर्शास्पर्श में विचार रखना चाहिये। पात्रशुद्धि और भक्षाभक्ष के विषय में भी शास्त्र मर्यादानुसार कर्तव्य करना चाहिये। यह सर्वथा उचित नहीं है कि वैष्णव लोग शास्त्रीय कर्म की उपेक्षा करें। शास्त्रीय कर्मों को भगवदर्थक समझ कर ही करना चाहिये।

जो लोग यह समझते हैं कि शास्त्र की सभी बातें मानने से तो अन्याश्रय भी हो जायेगा तो यह उनकी भूल है। वास्तव में कहा जाय तो गायत्री आदि के जप से अन्याश्रय नहीं होता।

अन्याश्रय तो तब होता है जब कि 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामना करने वाले को यज्ञ करने चाहिये) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार स्वर्ग आदि की कामना से यज्ञादिक करे। भगवदर्थक यज्ञ करने से अन्याश्रय नहीं होता।

७– प्रत्येक वैष्णव को "ब्रह्म संबंध" ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है। ब्रह्मसंबंध बिना जीव में सेवा का अधिकार नहीं आ सकता। ब्रह्मसंबंध के प्रत्येक कार्य ईश्वर में समर्पण करके करना चाहिये। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का उपभोग भी भगवान् के अर्पण करके करना चाहिये। ईशावास्योपनिषद् में कहा है–

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

अर्थात्– यह जगत् ईश्वरमय है। सब में ईश्वर का निवास है इसलिये भगवान् में सब वस्तु का समर्पण करके अपने उपयोग में ले। इसमें लालसा कभी न रक्खे। यह धन किसी का भी नहीं है। धनादि सर्व पदार्थ ईश्वर के हैं। पर वस्तु में लालसा रखना उचित नहीं।

८– प्रभु के पास कभी किसी चीज की भी याचना नहीं करनी, क्योंकि प्रभु सर्व समर्थ हैं। हमारे मन की सब बात जानने वाले हैं। हम लोग ही ईश्वरेच्छा को नहीं जान सकते। इसलिये यदि हमने कोई बात की याचना की और प्रभु को उसे देने की इच्छा न हुई और न दी तो इससे वृथा ही दुःख होता है और भक्ति में बाधा आती है।

९– देह धर्मों से, भगवद्धर्मों पर विशेष प्रीति होनी चाहिये।

१०– जीव प्रभु के सर्वथा आधीन है इसलिये अभिमान का सर्वथा परित्याग करना वैष्णव को उचित है।

११– वैष्णव को हठाग्रह का सर्वथा परित्याग करना योग्य हैं कर्ज (ऋण) कर के भी सेवा इत्यादि करते रहना महान् मूर्खपन है। भगवान् इससे कभी प्रसन्न नहीं होते।

१२– देह पर, समय २ पर जो जो दुःख पडें उन्हें धैर्य पूर्वक सहना चाहिये। जिस प्रकार माखन निकाल लेने पर छाछ सत्वहीन हो जाती है उसी प्रकार देह को भी जान कर, दुःख को सहन करना चाहिये। दुःख सहने में जड भरत का आदर्श सन्मुख रखना चाहिये। जिस प्रकार उनने समस्त दुःख धैर्य पूर्वक सहे उसी प्रकार जीव मात्र को दुःख सहना

चाहिये। प्रातः काल ही उठ कर निम्न लिखित श्लोकों का उच्चारण करे–

श्रीगोवर्धननाथपादयुगलं हैयंगवीनप्रियं
नित्यं श्रीमथुराधिपं शुभकरं श्रीविट्ठलेशं मुदा।
श्रीमद्द्वारवतीशगोकुलपती श्रीगोकुलेन्दुं विभुं
श्रीमन्मन्मथमोहनं नटवरं श्रीबा़लकृष्णं भजे।।
श्रीमद्वल्लभविट्ठलौ गिरिधरं गोविन्दरायाभिधं ।
श्रीमद्‌बालककृष्णगोकुलपती नाथं यदूनां तथा।।
एवं श्रीरघुनायकं किल घनश्यामं च तद्वंशजान्।
कालिन्दींस्वगुरुं गिरिं गुरुविभुं स्वीयप्रभूंश्च स्मरेत्।।

इसके अनन्तर अपना दैनिक कृत्य करे, फिर विद्यार्थीवर्ग अपने अध्ययन में लग जाय। अध्ययन समाप्त कर स्नान करलें तथा संध्यादिक से निवृत्तहो श्री स्वरुप की प्रेमपूर्वक सेवा करें। सेवा के अनन्तर पुष्टिमार्गीय मन्दिर में जा कर प्रभु के दर्शन करें और अनन्तर ठाकुरजी का प्रसाद लेकर अपने २ स्वाध्याय में लग जाय। रात्रि को यथा शक्य फिर सेवा करें और रात्रि को भगवद्वार्ता नियमित रूप से अवश्य सुनें, या कहें। यह साधारण वैष्णव मात्र का धर्म है।

अपनी जिन्दगी को सर्वदा सरल और आडम्बर रहित रक्खे। तथा इस पर से अहंता ममता हटा कर जो भी कुछ कार्य करें सब भगवदर्थक करे। यही वैष्णवों का परम कर्तव्य है।

वैष्णवों के लिये शास्त्रों का अर्थ तो यह है–

१– भगवान् श्रीकृष्ण की निर्गुण भक्ति के द्वारा उनकी कृपा प्राप्त करनी यही सर्व शास्त्रों का अर्थ है।

२– भगवान् ने श्रीगीतोपनिषद् में कहा है–

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।१८–५६।।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।।१८–५८।।

अर्थात्– जो मनुष्य सर्व कर्म मेरा आश्रय लेकर करता है, वह मेरी कृपा से शान्त और नाश रहित पद को प्राप्त करता है। मुझ में चित्त दृढ रखने से, मेरी कृपा से, सब भयों को (दुस्तर–काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि को) तिर जायेगा।

परीक्षार्थ प्रश्न

वैष्णवों का परम धर्म और कर्तव्य क्या है ?

संगति और गृहस्थी के दोष किस प्रकार निवृत्ति हो सकते हैं ?

वैष्णवों के तीन प्रकार के कर्तव्य क्या हैं ?

प्रभु के पास क्या कभी प्रार्थना विधेय है ?

संक्षेप में वैष्णवों के कर्तव्य कहो।
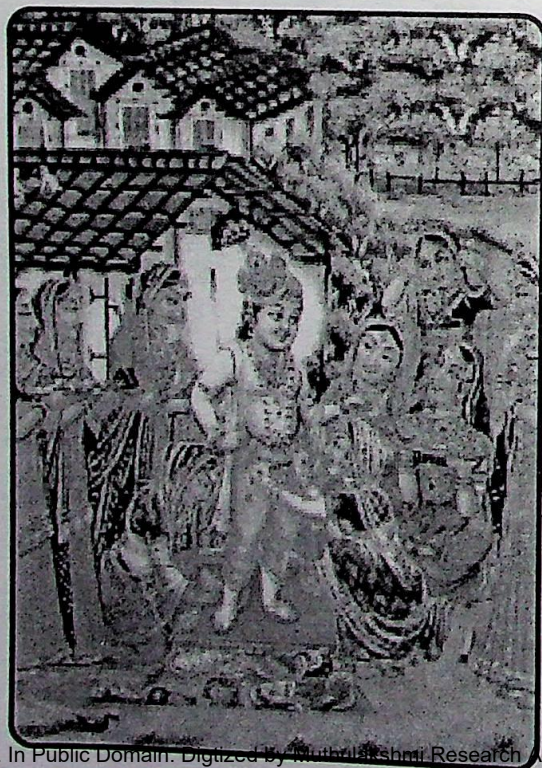
बहिर्मुखता

''बहिर्मुखता'' इस सम्प्रदाय में बडा दोष माना गया है। ईश्वर में आसक्ति न रख कर इन्द्रियसुख में आसक्ति रखनी इसे बहिर्मुखता कहते हैं और इन्द्रियों के सुख में आसक्ति न रख कर ईश्वर में आसक्ति रखनी उसे अन्तर्मुखता कहते हैं। बहिर्मुखता होने के मुख्य चार कारण हैं। अन्याश्रय, असमर्पित वस्तु भोग, असदालाप और दुःसंग।

वैष्णव को इन चारों से सावधान रहना चाहिये और ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिसमें उपर्युक्त चारों दोष न आ जावें और वह प्रभु से बहिर्मुख न हो जाय।

जब किसी प्रकार भी जीव बहिर्मुख हो जाता है तब काल और प्रवाहस्थ देह तथा चित्त, उसका भक्षण कर जाते हैं। अर्थात् तब जीव के अलौकिक देह चित्तादिक, लौकिक हो जाते हैं। इसलिये सर्वथा भगवान् के अन्तर्मुख ही रहना चाहिये। यदि जीव बहिर्मुख हो जाय तो उसी समय जीव के देह, चित्तादिक, भगवान् के चरणामृत और चरण कमल से उत्पन्न होते हुए भी, कालप्रवाहस्थ बन जाते है। बहिर्मुख हो कर यदि सेवा की जायेगी तो प्रभु कभी भी इसे स्वीकार न करेंगे। क्योंकि फलरूप श्रीकृष्णचन्द्र लौकिक नहीं हैं, वे लौकिक को कभी मानेंगे नहीं। अलौकिक प्रभु को प्रसन्न करने में हमारा भाव ही साधन हो सकता है। प्रत्येक क्षण यह विचार रहना चाहिए कि ''यह सब भगवान् का है। भगवान् श्रीकृष्ण सर्व से पर हैं।''

जब भगवान् का सेवक द्रव्योपार्जन में और गृह में ही आसक्त हो जाता है अथवा अपने आपको पुजवाने के लिये प्रयास करने लगता है तब भगवान् उस पर कोपायमान होते हैं। अर्थात् उस समय सेवक बहिर्मुख हो जाता है।

जब भगवत्सेवक भक्तिमार्ग का त्याग करके जननेंद्रिय और उदर तृप्ति के लिये ही उद्यम करता है तब उसमें आसुरावेश होता है और भगवान् तब ऐसे बहिर्मुख सेवकों से विमुख हो जाते हैं। अर्थात् सेवक बहिर्मुख हो जाता है।

जब भगवत्सेवक को अहंकार होता है और वह शास्त्र अथवा भगवदीयों का अनादर करता है तब भगवान् उस पर कोप करते हैं और वह बहिर्मुख हो जाता है।

जब बडे कुल में उत्पन्न हुए भगवद्भक्त अपने कुल की रीति छोडने लगते हैं उस समय उनके स्वामी श्रीकृष्ण उन पर कुपित होते हैं और वे जीव को बहिर्मुख कर देते हैं। थोडे में यदि कहें तो, जहां सन्मार्ग में स्थिति नहीं है, जिनकी आचार्य में श्रद्धा नहीं है अथवा आचार्योपदेशो में निष्ठा नहीं है वे सब बहिर्मुख हैं।

बहिर्मुखता की निवृत्ति के लिये श्रीमदाचार्यचरणों का अहर्निश चिन्तवन करना चाहिये।

जो बहिर्मुखता की निवृत्ति करनी हो तो सदा भगवदीयों का ही संग करना चाहिये । निरन्तर हरि सेवा करनी यही स्वमार्गीय मुख्य धर्म है। सेवा साधनबुद्धि से नहीं करनी चाहिये किन्तु मन इत्यादि सर्व इन्द्रियों को प्रभु में योजकर फल बुद्धि से करनी चाहिये।

ब्रह्मसंबंध या आत्मनिवेदन करके सदैव उसका स्मरण करते रहना चाहिये । वारंवार स्मरण करने से प्रभु शीघ्र ही हृदय में प्रकट होते हैं और बहिर्मुखता की निवृत्ति होती है।

श्रीसुबोधिनीजी के अनुसार श्रीभागवत का भावार्थ सदा श्रवण करना चाहिये। प्रभु में दृढ आश्रय रखकर श्रवण और कीर्तन करने से बहिर्मुखता की निवृत्ति होती है।

परीक्षार्थ प्रश्न

बहिर्मुखता क्या है ?

बहिर्मुखता दूर हो इसका क्या उपाय है ?

श्रीमहाप्रभुजी की उत्तमोत्तम शिक्षाएं

१– वैष्णव को, भगवान् श्रीकृष्ण को सर्वसमर्थ ईश्वर मान कर केवल उनका ही आश्रय करना चाहिये। अन्याश्रय कभी न करे। क्योंकि अन्य देवता गणितानन्द (गिना जा सके ऐसा सुख, क्षणभङ्गु) देने वाले हैं उनकी सामर्थ्य ही नहीं है कि वे कुछ अधिक दे सकें। इससे मालिक को छोड़कर उनके अधिकारी वर्गो की सेवा करना अज्ञानता है।

२– प्रत्येक वैष्णव की इच्छा परब्रह्म प्राप्ति होनी चाहिये। यह प्राप्ति भगवत्सेवा द्वारा संभव है इसलिये निष्काम हो कर भगवान् की आराधना करे। कपट कभी न रक्खे।

३– वेदों पर अटल विश्वास रक्खें, क्योंकि इसमें प्रभु का स्वरुप रक्षित है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत की भी सेवा करे।

४– श्रीकृष्ण पर अटल विश्वास रख उनकी सेवा करे। सेवा में मन सर्वथा एकाग्र रक्खे। मानसी सेवा उत्तम है इसकी सिद्धि के लिये तनुजा और वित्तजा सेवा हैं।

५– जीव अक्षर ब्रह्म का अंग है फिर भी अविद्या से वह अपने स्वरुप को नहीं जानता। अविद्या से मुक्त होने पर स्वरूपानन्द मिलता है।

६– श्रवणाभक्ति करने से भगवान् का माहात्म्य जाना जा सकता है और भगवान् की सेवा में अभिरुचि बढती है। सेवा के साथ श्रवणादि करने से अविद्या से जीव शीघ्र मुक्त हो जाता है।

७– जीवों के दो भेद हैं, दैवी और आसुरी। दैवी सृष्टि मोक्षकी अधिकारिणी है। इसके दो भेद हैं। पुष्टि और मर्यादा। पुष्टिसृष्टि प्रभु के स्वरूप में ही आसक्त रहती है और उनकी प्रवृत्ति प्रभु की सेवा करने में ही होती है।

मर्यादासृष्टि वेदाज्ञा में आसक्त होने से मर्यादा में ही उनकी विशेष आसक्ति रहती है। आसुरी, प्रवाही सृष्टि है। यह सृष्टि लौकिक प्रवाह में आसक्त रहती है। पुष्टिभक्ति के भी भेद हैं। उसमें शुद्धपुष्टिभक्ति अत्यन्त श्रेष्ठ गिनी गई है इस भक्ति के अधिकारी जीव, केवल प्रभु की आज्ञा से ही प्रभु की लीलोपयोगी अनुकूलता करने के लिये प्रकट होते हैं। प्रभु की आज्ञानुरुप कार्य करके वे फिर प्रभु के समीप ही चले जाते हैं। मिश्रपुष्टि—अपराध वश प्रभु के द्वारा इस लोक में आते हैं इन के तीन भेद हैं। पुष्टिमिश्र पुष्टि, मर्यादामिश्र पुष्टि और प्रवाह मिश्र पुष्टि भक्त। पुष्टि मिश्र भक्त भगवान् के सब स्वरूपों को और उनके गुणों को, उनकी लीला को और अपने ऊपर हुए दण्ड को, और अब उनका क्या कर्तव्य है यह सब जानने वाले होते हैं।

मर्यादा मिश्रपुष्टिभक्त भगवान् के गुणों को जानने वाले होते हैं। प्रवाह मिश्रपुष्टिभक्तों में भगवान् में स्नेह कम होता है। लौकिक आसक्तिवश वे प्रभु सेवा संबंधी कार्य स्नेह रहित होकर करते हैं। इन मिश्रपुष्टि भक्तों का क्रम से शुद्ध पुष्टि में प्रवेश हो सकता है।

प्रवाही जीवों के दो भेद हैं। सहज आसुर और अज्ञ आसुर। सहज आसुरों का वर्णन गीताजी के सोलहवें अध्याय के सात से बीस श्लोकों में किया है।

अज्ञ आसुर सच पूछा जाय तो दैवी ही हैं। इनका समावेश प्रवाह मिश्र पुष्टि भक्तों में हो जाता है। वे सहज आसुर में मिल नहीं जाते। वे भक्तिमार्ग का अनुसरण करने वाले होते हैं और दण्ड का भोग कर क्रम से कृतार्थ हो जाते हैं।

पुष्टि सृष्टि प्रभु के अंग से ही उत्पन्न हुई है। इसलिये उसकी क्रिया, प्रभु स्वरूप की सेवा और आसक्ति भी उसी स्वरूप में ही होती है जिससे अन्तिम फल भी प्रभु स्वरूप की प्राप्ति और उनकी अविच्छिन्न सेवा का फल

मिलता है। मिश्रपुष्टि जीव भी क्रम क्रम से और अन्त में श्रीभगवत्स्वरूप को पा सकते हैं।

मर्यादा सृष्टि प्रभु की वाणी द्वारा उत्पन्न हुई है। इसलिये उनकी आसक्ति वाणी रूप वेद में ही विशेष होती है। प्रभु के स्वरूप में उनकी आसक्ति नहीं होती। वेद के ज्ञान में ही आसक्ति रहने से उसी को चरम फल मानते हैं इसलिये ज्ञानरूप वेद उनको फल देता है। प्रभु प्राप्ति का फल उनको नहीं मिलता।

प्रवाही सृष्टि प्रभु की इच्छा से इस जगत् के प्रारंभ से अन्तपर्यन्त, महाकाल पर्यन्त, लौकिक सुख दुःख में ही आसक्त रहकर उसीमें भटका करते हैं। ये सहज आसुर (अहंकारी) हैं। इन आसुरीजीवों में से भी कितने ही चर्षणी वाच्य जीव हैं। वे पुष्टि प्रवाह और मर्यादा में भ्रमण किया करते हैं। उन उन मार्ग में दीक्षित हो तदुक्त कर्म करते हैं। किन्तु उनका चित्त किसी में भी लगता नहीं है। हर समय डगमग डोलता रहता है। उनको अपनी बाह्य क्रिया के अनुसार लौकिक फल प्राप्त होता है।

८– दोषों की निवृत्ति के लिये ''ब्रह्मसंबन्ध'' अवश्य लेना चाहिये ब्रह्मसंबंध के अनन्तर ही जीव सेवा का अधिकारी हो सकता है।

९– प्रभु को निवेदन करके ही वस्तुमात्र का उपयोग करना चाहिये।

१०– सेवक का स्वामी के प्रति जो धर्म है उसी का अनुसरण करते हुए प्रभु की परिचर्या करनी। अपने सुख की इच्छा न रख, अपने प्रभु के ही सुख की इच्छा रखनी।

११– सेवा करने में कोई भी भावान्तर नहीं आना चाहिये। यदि आ जाय तो प्रभु से क्षमायाचना करनी और फिर वही दोष कभी भी न आवे ऐसा प्रयत्न करना।

१२– वैष्णव को दीनता अवश्य रखनी। जिसको सच्ची दीनता प्राप्त होती है उसे प्रभु की अंगीकृति का परिचय होता है। दीनता प्राप्त करने के लिये ''श्रीकृष्णः शरणं मम'' यह मन्त्र उत्तम साधन है।

१३– विवेक, धैर्य और आश्रय की रक्षा प्रत्येक वैष्णव को करनी चाहिये। ''भगवान् सब अपनी इच्छा से करेंगे'' इस भावना को विवेक कहते हैं। प्रभु के आगे कभी दुःख की निवृत्ति के लिये अथवा सुख की प्राप्ति के लिये, प्रार्थना नहीं करनी। आपत्ति के समय में कार्य में हठका त्याग करना और धर्माधर्म में धर्म का तत्व समझ कर उसे ही अपनाना। व्यर्थ के हठ को ग्रहण न करना, इसे विवेक कहते हैं।

सर्व प्रकार से हरि की शरणागति रखनी। भय प्रसंग में भी उसी का आश्रय रखना चाहिये। भगवान् में अविश्वास का परित्याग कर आश्रय रखना चाहिये।

प्रभु, भक्त की परीक्षा करने के लिये दुःख भेजते हैं। इसलिये उन्हें धैर्य पूर्वक सहन करना चाहिये। वह दुःख भवदिच्छा से ही दूर हो सकता है। व्यर्थ परिश्रम करके ईश्वर पर अविश्वास नहीं प्रकट करना चाहिये।

१३– सब प्रकार का अपमान और कठोरता, प्राणिमात्र में ईश्वर की भावना रखकर, सहन करे।

१४– इन्द्रियों के विषयों का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

१५– इस लोक और परलोक के विषय में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का ही आश्रय रक्खे। अन्याश्रय कभी न करे।

१६– दुःख से बचने के लिये भय आवे तब सर्वथा भगवान् का आश्रय ग्रहण करे।

१७– जीव से यदि अपराध हो जाय तो भी कृष्ण का आश्रय ग्रहण करने से अपराध की मुक्ति होती है। किसी कार्य की सिद्धि होतो भी भगवान् ने सिद्ध किया यह माने और यदि कार्य की सिद्धि न भी हुई तो भी भगवान् की इच्छा ही ऐसी थी यह माने। इस प्रकार विचारने से दुःख नहीं होता।

१८– अभिमान् कभी न करे। यदि कभी अभिमान् आजाय तो ''श्रीकृष्णः शरणं मम'' इस मन्त्र का पाठ कर ले इससे अहंकार की निवृत्ति होती है। उचित तो यह है कि सर्वदा और सर्वत्र निरलिप्त हो भगवान् के इसी मन्त्र को जपता रहे।

१९– अपने धर्म को सदा श्रेष्ठ मान कर उसमें श्रद्धा पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करे। विधर्म अथवा दूसरों के धर्म से अथवा अपने से विरुद्ध धर्म से सदा दूर रहे।

२०– अपने इन्द्रिय रूपी अश्वों को खूब रोके। कभी जिज्ञासा अथवा कौतूहलवश भी इनका अन्यथा उपयोग न करे।

प्रत्येक वैष्णव को प्रातःकाल चार से पांच बजे तक अवश्य ही उठ जाना चाहिये। जागृत होने के पश्चात् 'श्रीकृष्ण' 'श्रीवल्लभाधीश' 'श्रीगुसांईजी' 'श्रीयमुनाजी' 'श्रीगुरुदेव' इत्यादि पुण्यनामों का स्मरण करना चाहिये। इसके अनन्तर श्रीनाथजी और अपने मन्त्रोपदेष्टा गुरु के चित्रों का दर्शन करे।

परीक्षार्थ प्रश्न

वैष्णव किसका आश्रय ग्रहण करें?

अन्याश्रय क्यों नहीं करना चाहिये?

पुष्टिसृष्टि का भेद सहित निरूपण करो।

आसुरी सृष्टि का भेद सहित दिग्दर्शन कराओ।

मर्यादा सृष्टि क्या है?

विवेक, धैर्य और आश्रय समझाओ।

श्रीमहाप्रभु की शिक्षाओं का संक्षेप में वर्णन करो।

संप्रदाय के सात पीठ एवं उनके अधीश्वर

हम यह लिख आये हैं कि इस संप्रदाय में श्रीकृष्ण ही सर्वत्र सर्वदा समान रूप से सेव्य हैं। नाथद्वारा में विराजमान श्रीनाथजी का स्वरुप स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र का, उस समय का साक्षात्स्वरूप है जिस समय आपने गोवर्धन धारण किया था। सम्प्रदाय के सब अनुयायी श्रीनाथजी के इस परम धाम को सर्वपूज्य मानते हैं तथा एक समय श्रीनाथजी के दर्शनार्थ नाथद्वारा जाना अपने अत्यावश्यक कार्यों में से प्रथम आवश्यक कार्य मानते हैं। यहां के अधीश्वर वैष्णव वर्ग में सर्वपूज्य गिने जाते हैं। इसी श्रेष्ठता का निदर्शन कराने के लिये आपको वैष्णव वर्ग तिलकायित कह कर सम्मानित करता है।

आजकल गोस्वामी तिलक विद्यानुरागी सम्माननीय श्रीराकेशजी (श्रीइन्द्रदमनजी) महाराज श्रीनाथजी के प्रधान पीठस्थित हैं। आपका सम्मान वैष्णवों में असाधारण है। आप सर्वत्र सर्व पूज्य गिने जाते हैं।

श्रीनाथजी के अतिरिक्त आपके यहां श्रीगुसांईजी द्वारा सेवित श्रीनवनीत प्रियजी का स्वरुप भी विराजमान है।

इस प्रधान पीठ के अतिरिक्त संप्रदाय में सात पीठ और हैं। ये सब भी सर्वत्र पूज्य हैं।

प्रथम पीठ– संप्रदाय का प्रथम पीठ श्रीमथुरेशजी का है। यह पीठ कोटा में है। इस पीठ के आजकल अधीश्वर गोस्वामी श्रीलालमणिजी महाराज हैं।

द्वितीय पीठ– नाथद्वारा में विराजमान श्रीविट्ठलनाथजी की पीठ, संप्रदाय में द्वितीय पीठ है। इस पीठ के अधीश्वर श्रीकल्याणरायजी महाराज हैं।

तृतीय पीठ– कांकरोली में विराजमान श्रीब्रजेशकुमारजी महाराज तृतीय पीठाधीश्वर हैं। आपकी सृष्टि गुजरात में बहुत है। इनके सेव्य श्रीद्वारकाधीशजी हैं।

चतुर्थ पीठ– इस पीठ के अधीश्वर सुप्रसिद्ध सुरेशबावा हैं। यहां श्रीगोकुलनाथजी का स्वरूप विराजमान है।

पंचम पीठ– इस पीठ के अधीश्वर भी श्रीवल्लभलालजी महाराज हैं। यहां श्रीगोकुलचन्द्रमाजी का स्वरूप विराजमान है।

षष्ठ पीठ– संप्रदाय के छठे घर के विषय में चिर काल से विवाद चला आ रहा है। अभी तक उसका कुछ भी निर्णय नहीं हुआ है। इस घर के अधिकारी दो गोस्वामी अपने अपने को बताते हैं। (१) श्रीगोपेशकुमारजी सूरत (२) श्रीश्याममनोहरजी बनारस के महाराज अपने अपने को षष्ठ पीठाधीश्वर बताते हैं। इनके सेव्य श्रीबालकृष्णजी एवं श्रीमुकुन्दरायजी हैं।

सप्तम पीठ– सम्प्रदाय का सप्तम पीठ कामवन में विराजमान श्रीमदनमोहनजी का है। इस पीठ के अधीश्वर श्रीनवनीतलालजी, श्रीघनश्यामलालजी महाराज हैं।

इन सात पीठों के अतिरिक्त गोद के स्वरूप भी संप्रदाय में तत्तत्स्थानों पर विराजते हैं। अमदाबाद में विराजमान श्रीनटवरलालजी का स्वरूप श्रीमहाप्रभुजी द्वारा सेवित है। सूरत में विराजमान श्रीबालकृष्णलालजी का स्वरूप भी श्रीमहाप्रभुजी द्वारा सेवित है। यह स्वरूप पूर्व में श्रीद्वारकाधीश की गोद में विराजते थे।

परीक्षार्थ प्रश्न

सम्प्रदाय का सर्वपूज्य धाम कौन सा है ?

सम्प्रदाय के प्रथम, तृतीय, पंचम और सप्तम पीठ कौन–कौन से हैं? और उनके अधीश्वर सम्प्रति कौन है ?

गोद के स्वरुप कौन से हैं ?

ब्रह्मसूत्र पर विभिन्न आचार्यों के मत

1. **आचार्य श्रीशंकर** का अद्वैत मत में दृश्य जगत् केवल प्रतीतिमात्र है। यह प्रतीति अज्ञान के कारण है निर्गुण, निराकार, निर्विकार, चेतन सत्ता है। दृश्य जगत् उससे भिन्न नहीं है इत्यादि।

2. **आचार्य श्रीरामानुज** का विशिष्टा द्वैत मत है। अद्वैतवाद साधन–चतुष्टय श्रवण–मनन निदिध्यासन से अपरोक्षानुभूति का प्रतिपादन लेकर प्रवृत्त हुआ, आदि।

3. **श्रीमध्वाचार्य** का द्वैत मत है। महाप्रभु श्री मध्वाचार्य द्वारा प्रतिपादित द्वैतवाद पूर्ण प्रज्ञ–दर्शन कहा जाता है। जीव और ब्रह्म ये दो नित्य पृथक् सत्ताएं हैं।

4. **श्रीनिम्बार्क** का द्वैताद्वैत मत है। महाप्रभु श्री निम्बार्काचार्य द्वैत एवं अद्वैत दोनों का सामंजस्य करने वाला प्रकाश जगत् को दिया।

5. **श्रीमद्वल्लभाचार्य** शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक है। महाप्रभु श्रीमद् वल्लभाचार्य ने जगत् के मिथ्यात्व का खण्डन करके उपासन की प्रतिष्ठा की है।

श्रीकृष्ण ही ब्रह्म है। वे निर्गुण, निर्विशेष, कर्ता, भोक्ता, निर्विकार, गुणातीत समस्त विरूद्ध धर्मों के आश्रय संसार के धर्मों से रहित तथा जगत् उपादान कारण हैं। भगवद् अनुग्रह पुष्टि से होती है। ब्रह्म का विवेचन शास्त्र के द्वारा ही सम्भव है।

किंचित् ज्ञातव्य

- श्रीवल्लभाचार्यजी का मत शुद्धाद्वैत है।
- प्रभु के अनुग्रह मार्ग को ही ''पुष्टिमार्ग'' कहते हैं।
- पुष्टि से ही जीव की प्रभु में भक्ति होती है।
- जहां केवल अनुग्रह से प्रभु प्रेम प्राप्त हो उसे पुष्टि भक्ति कहते हैं।
- ब्रह्म सत्य है तथा जगत् भी ब्रह्म रूप होने से सत्य हैं।
- श्रीकृष्ण और ब्रह्म में पार्थक्य नहीं है इन्हीं से जीव और पकृति की उत्पत्ति है।
- जीव अणुरूप है एवं अग्नि चिनगारी की तरह ही स्वांश है।
- ब्रह्म की एक सामर्थ्य का नाम माया है। यह ब्रह्म से अभिन्न है।
- श्रीमहाप्रभुजी जीव तथा ब्रह्म में नितान्त एकता का अनुभव करते हैं अतः पूर्ण अद्वैत के समर्थक हैं।
- प्रभु कर्तुं अकर्तुं अन्यथ कर्तुं समर्थ है।
- सर्वत्र हरि के साक्षात्कार को सर्वात्म भाव कहते हैं।